कल्याण
वर्ष २३]
[अंक १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, अक्टूबर सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥=) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

चौबीसवें वर्षके 'ल्याण' का विशेषाङ्क

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

प्रेमी ग्राहकों व पाठकोंसे प्रार्थना

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत पुरानी माँग । कई वर्षोंसे विचार भी चल रहा था; परंतु विषयकी अत्यन्त व्यापकताको देखकर साहस नहीं होता था । वस्तुतः यह विषय एक 'विशेषाङ्क'का है भी नहीं । पर अन्तमें ग्राहकोंके विशेष अनुरोधसे इस वर्षके लिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' निकालना निश्चय हो गया । विषय-सूची बनायी गयी तो लगभग एक हजार विषय आ गये । संक्षेप करते-करते २७० विषय रहे । ये विषय भी इतने व्यापक हैं कि इनमेंसे कई विषयोंपर पृथक्-पृथक् विशेषाङ्क निकल सकते हैं । इस विशेषाङ्कमें इन विषयोंमेंसे अधिकांश न्यूनाधिकरूपसे विचार किया जायगा ।

इस अङ्कमें विविध वैदिक सूक्तोंके सुन्दर सरल पद्यानुवाद-गद्यानुवाद रहेंगे । महाभारत, भागवत, रामायण आदिकी चुनी हुई सूक्तियाँ सानुवाद रहेंगी । हिंदू-संस्कृति, संस्कृतिका स्वरूप तथा आचार, संस्कृति और धर्म, संस्कार, ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म, अवतार, पुनर्जन्म, परलोकवाद, भूगोल, इतिहास, राजनीति, वर्णाश्रम-धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, शास्त्रास्त्र-विज्ञान, विविध विज्ञान, अङ्कगणित, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, गन्धर्व-विद्या, मनोविज्ञान, काव्य, व्याकरण, शिक्षा, शासनव्यवस्था, रामराज्य, चौंसठ कला आदि-आदि अनेकों उपयोगी विषयोंपर सुन्दर, सुविचारयुक्त, खोजपूर्ण लेख रहेंगे । सुन्दर सुबोध सद्भावपूर्ण कविताएँ और कहानियाँ रहेंगी । इस अङ्कके लिये बहुत ही मननके साथ लेख लिखे-लिखवाये गये हैं । बड़े-बड़े मनीषियोंने सहायता दी है ।

लेखोंके अतिरिक्त भगवदवतारोंके, प्राचीन तथा अर्वाचीन महापुरुषों, महात्माओं, संतों, वीरों, देवियों और विद्वानोंके सुन्दर सुपाठ्य चित्र और सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे । इसके सिवा प्राचीन कलाओंके, प्रायः सभी प्रमुख हिंदू-तीर्थोंके, शास्त्रीय देव-मूर्तियोंके विदेशोंमें प्राप्त हिंदूकला तथा मूर्तियोंके चित्र रहेंगे । भूगोलके मानचित्र भी होंगे । कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिंदू-संस्कृतिके सम्बन्धमें विविध विषयोंकी इतनी बहुमूल्य सामग्री एक स्थानपर हिंदीसाहित्यमें इतने सस्ते मूल्यपर इसी अङ्कमें मिल सकेगी । अङ्क सब प्रकारसे उपादेय, सुन्दर, विचारपूर्ण, संग्रहणीय तथा प्रचार-प्रसारके योग्य होगा एवं गम्भीर तथा सरल दोनों प्रकारकी सामग्री होनेके कारण सभी श्रेणीके लोगोंके कामका होगा ।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की पृष्ठ-संख्या चित्रोंसमेत लगभग ११०० होगी । इस सालके उपनिषद्-अङ्क-की पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० थी । इस हिसाबसे विशेषाङ्कमें ३०० पृष्ठ बढ़ जाते हैं । इतनी तो सामग्री अधिक है । इसके अतिरिक्त बहुत चित्र भी सुन्दरता तथा टिकाऊपनके खयालसे उत्तम आर्ट पेपरपर छापे जायँगे । आर्ट पेपरका मूल्य बहुत अधिक है । फिर, छपाईके कागजोंके दाम भी पिछले दो सालसे अब बहुत बढ़ गये हैं प्रेस-कर्मचारियोंका वेतन तथा अन्यान्य खर्च भी बहुत बढ़ा है । इतना सब होनेपर भी डाकखर्चसमेत 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७॥) ही रक्खा गया है । इसमें ।) तो रजिस्ट्रीके चले जायँगे और वजन बढ़ जानेसे स्टाम्प अधिक लगेंगे सो अलग । ७॥) में ही हिंदू-संस्कृति-अङ्क तथा ग्यारह महीनों ग्यारह साधारण अङ्क सदाकी भाँति मिलेंगे । इस दृष्टिसे यह अङ्क बहुत सस्ता रहेगा ।

*

गत वर्ष 'नारी-अङ्क' और इस वर्ष 'उपनिषद्-अङ्क'के लिये बीसों हजार ग्राहकोंको निराश रहना पड़ा। इस वर्ष हजारों पुराने ग्राहकोंको वी० पी० नहीं भेजी जा सकी। जिनके रुपये पहले आ गये थे, उनको भेजनेमें ही अङ्क समाप्त हो गये। इस बार तो 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग बहुत पहलेसे आने लगी है। इसलिये सम्भव है कि अङ्क निकलनेके बाद वह बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाय। जो सज्जन मनीआर्डरसे रुपये भेजकर पहले ग्राहक बन जायँगे, उनको विशेषाङ्क अवश्य मिल जायगा।

अतएव 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' चाहनेवाले पुराने तथा नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ७॥) मनीआर्डरसे तुरंत भेजनेकी कृपा करनी चाहिये।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की बहुत-सी सामग्री प्रेसमें भेज दी गयी है। परंतु ११०० पृष्ठकी सवा लाख प्रतियाँ छापनेमें बहुत समय लगेगा। अतएव विशेषाङ्क जनवरीके अन्ततक प्रकाशित हो सकेगा। मनी-आर्डर फार्म गताङ्कके साथ सेवामें भेजा जा चुका है। मनीऑर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता तथा ग्राहक-नम्बर साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

वितरणार्थ 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवालोंसे निवेदन

हमारे पास ऐसे पत्र आये हैं जिनमें वितरणकेलिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'की माँग है। अतः हमारी प्रार्थना है कि जिन महानुभावोंको वितरणके लिये जितने अङ्क चाहिये, वे तुरंत रुपये भेजकर अभीसे अङ्कोंकी संख्या नोट करवा देनेकी कृपा करें। संख्याका ठीक पता होनेपर उतने अङ्क अधिक छापनेका प्रयत्न किया जायगा। ऐसा न होगा तो पीछे वितरणके लिये अङ्क मिलने कठिन हो जायँगे। प्रचारकी दृष्टिसे केवल 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' खरीदनेवाले ऐसे सज्जनोंकी सुविधाके लिये इस एक अङ्कका मूल्य ६॥) रक्खा गया है।

छप गयी !

गीता-डायरी सन् १९५० प्रकाशित हो गयी !!

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इसमें आपको पैसे तथा समय दोनोंकी बचत हो सकती है।

साइज २०×३० बत्तीसपेजी, साधारण जिल्द, दाम =) डाकखर्च ।≡); भारत-सरकारकी कागज-नियन्त्रण आज्ञाके डायरी-मुद्रणसम्बन्धी नियममें अभीतक कोई परिवर्तन न होनेके कारण इस साल भी तिथियोंके पृष्ठोंके अतिरिक्त अन्य उपयोगी बातें अधिक नहीं जा सकीं। केवल नित्य प्रार्थना, अमूल्य शिक्षाएँ, संतवाणी, आत्मोन्नतिके मुख्य साधन, भक्त, गीताका मनन शीर्षक उपदेश और 'वन्दे नंदनंदनं देवं' का एक चित्र दिया गया है।

दो प्रतियोंके लिये मूल्य १।), पैकिंग और डाकखर्च ।-) कुल १॥।-); तीनके लिये मूल्य १॥।=), पैकिंग-डाकखर्च ॥=), कुल २॥); छः के लिये मूल्य ३॥।), पैकिंग-डाकखर्च ॥≡), कुल ४॥≡); आठके लिये मूल्य ५) पैकिंग-डाकखर्च १-) कुल ६-) और बारह प्रतियोंके लिये मूल्य ७॥), पैकिंग तथा डाकखर्च १।≡) सहित कुल ८॥≡) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सेवक-सुखदाता श्रीसीतारामजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २००६, अक्टूबर १९४९ { संख्या १० पूर्ण संख्या २७५

सेवक-सुखदाता

बन्दौं प्रभु सेवक सुखदाता ।
सिंहासनासीन रघुनन्दन वाम जानकी माता ॥
भरत लखन रिपुदमन पवनसुत सेवित करुनारूप ।
असरन-सरन दीन प्रतिपालक पावन त्रिभुवन भूप ॥
राजा राम अवध रजधानी चिन्मय सदा उदार ।
नाम-कामतरु भवभय भंजन स्रुति-सुभसाधन सार ॥
आरति-हरन अनाथ नाथ प्रभु अब अपनो करि लीजै ।
कलिकौ कलुष निवेरि कृपामय कोर कृपाको कीजै ॥

कल्याण

याद रक्खो—ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसमें कोई सद्गुण न हो, तथा ऐसा भी कोई नहीं जो दोषोंसे सर्वथा रहित हो। सभी गुण-दोषमय हैं। किसीमें दोष अधिक प्रकट हैं तो किसीमें गुण। ये दोष-गुण प्रकट होते हैं अनेक बाहरी कारणोंसे। हम किसीके सामने शुभ तथा सत् विषयोंको रखकर उनके सजातीय गुणोंको—जो छिपे हुए हैं, प्रकट कर सकते हैं और अशुभ तथा असत् विषयोंको रखकर उनके सजातीय दोषोंको प्रकट कर सकते हैं। गुण प्रकट होनेपर उन्हींके अनुसार क्रिया होती है, जिससे उसका तथा उसके सम्पर्कमें आनेवाले सभीका न्यूनाधिक हित होता है और सुख मिलता है। दोष प्रकट होनेपर भी उन्हींके अनुसार क्रिया होकर उसका तथा जगत्के लोगोंका अहित होता है और उन्हें दुःख मिलता है। अतएव ऐसी कोई चेष्टा मत करो जिससे किसीके अंदर छिपी हुई बुराई प्रकट हो और वह बुरा बन जाय। अपने सदाचरणोंके द्वारा मनुष्यके अंदर सोये हुए सद्गुणोंको जगाओ, बुरा आचरण करके दोषों-दुर्गुणोंको मत जगाओ।

याद रक्खो—निन्दा-चुगली करके, गाली देकर या चुभनेवाली बात सुनाकर अहित और अप्रिय आचरण करके एवं क्रोध, मान या लोभवश अन्याय्य आचरण करके किसीके अंदर सोयी हुई बुराईको जगाओगे और बढ़ा दोगे तो तुम जगत्का बड़ा अमंगल करोगे। फलतः तुम्हारा भी अमंगल निश्चित होगा। इसी प्रकार यदि तुम सच्ची प्रशंसा करके, मधुर प्रिय बात सुनाकर, हितपूर्ण प्रिय आचरण करके, प्रेम, सौहार्द और हित-बुद्धिसे न्यायपूर्ण और प्रेमपूर्ण आचरण करके किसीके अंदर सोयी हुई भलाईको जगा दोगे तो तुम जगत्का मङ्गल करोगे और फलतः तुम्हारा भी मङ्गल अवश्य होगा।

याद रक्खो—जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है। भलाईके बीज बोओगे तो भलाई पैदा होगी और वह अनन्तगुनी होकर दूर-दूरतक फैल जायगी। इसलिये यदि किसीमें बुराई प्रकट है और वह तुम्हारे साथ भी बुरा बर्ताव कर रहा है, तब भी उसके साथ भलाईका भला बर्ताव करो। भलाईकी इतनी प्रबल धार हो कि उसमें उसके बुराईके सब पौधे समूल बह जायँ। फिर उनके स्थानमें तुम अपनी भलाईके बीज बिखेर दो—प्रचुर मात्रामें, जो निश्चितरूपसे भलाई-ही-भलाई उत्पन्न कर दें।

याद रक्खो—यदि लोग बुराईके बदले बुराई करना छोड़ दें तो बुराईकी परम्परा कुछ ही समयमें नष्ट हो जायगी और फिर सभीमें सब ओर भलाई-ही-भलाई भर जायगी। क्योंकि बुराईसे बुराई और भलाईसे भलाई उत्पन्न होती है। इसलिये बुराई करनेवालेके साथ जी भरकर भलाई करो, निन्दा करनेवालेमें भी गुणोंको खोजकर उनकी तारीफ करो, गाली देनेवालोंको आशीर्वाद दो, मारनेवालोंके लिये भगवान्से प्रार्थना करो और अपने मनको सदा ही सद्भावनासे भरा रक्खो—जिसमें वह किसीकी बुराईके बदलेमें बुराई करनेकी कल्पना भी न कर सके।

याद रक्खो—जो लोग तुम्हारी निन्दा करते हैं, वे चाहे किसी कारणसे करते हों, तुम्हारा भला ही करते हैं और उनकी की हुई निन्दामेंसे अधिकांश सत्य होती है। और प्रशंसा करनेवालोंकी प्रशंसामें अधिकांश झूठी होती है। गहराईसे देखोगे तो इसका स्पष्ट पता चल जायगा। अतएव प्रशंसामें भूलकर भी भूलो मत, फूलो मत; और निन्दामें दुखी मत होओ। वरं निन्दापर विचार करो और उसमें जितनी सत्यता हो उसका तुरंत संशोधन करके निन्दकका उपकार मानो और बदलेमें उसकी निःस्वार्थ सेवा करनेका शुद्ध प्रयत्न करो।

'शिव'

समयका सदुपयोग

जो सुख-दुःखके स्तरसे ऊपर उठ गये हैं, उनकी बात अलग है। अन्यथा हममेंसे ऐसा कोई नहीं जो दुःख चाहता हो। किंतु हमारे न चाहनेपर भी दुःख तो पिण्ड नहीं छोड़ता। दुःखके लिये हम कोई प्रयत्न नहीं करते, फिर भी दुःखके निमित्त उपस्थित होते ही हैं। और अज्ञानवश अपने आपको उनसे जोड़कर हम दुखी भी होते ही हैं। ठीक इसी प्रकार यह सनातन नियम है कि इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले विषयसम्बन्धी सुखके निमित्त भी हमारे बिना प्रयत्न किये, हम जहाँ कहीं भी रहें, हमारे सामने आ जायँगे। कर्मजगत्के नियमोंसे नियन्त्रित होकर ये भी बिना प्रयास हमें प्राप्त हो जायँगे—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

(श्रीमद्भा० ७।६।३)

इनके लिये चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है। भले ही इस सनातन नियमके प्रति हमारी श्रद्धा न हो, हम इसे न मानें, पर मानने न माननेसे सत्यमें हेर-फेर नहीं होता। यह ठीक है कि दृढ़ सङ्कल्पशक्तिसे अनुप्राणित हुए अपने किसी नवीन प्रबल कर्मके द्वारा वैषयिक सुखोंके लिये निमित्तोंकी रचना भी हम कर सकते हैं, यह स्वतन्त्रता हमें प्राप्त है, तथा यह स्वतन्त्रता भी कर्मजगत्के उस सनातन नियमके अन्तर्गत ही है, हमारा नवीन कर्म तुरंत नवीन प्रारब्धके रूपमें परिणत होकर निर्दिष्ट प्रारब्धके बीचमें ही अपना फल दान कर सकता है; किंतु जो फल मिलेगा, वह होगा आखिर नश्वर ही—जीवनके साथ ही समाप्त हो जानेवाला। दूसरे शब्दोंमें इस बातको कहें तो ऐसे कहना चाहिये कि जो वस्तु अपने आप मिलनेवाली (निर्दिष्ट प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले विषय-सुख) है, उसके लिये तथा जो नवीन चेष्टासे प्राप्त होनेवाली नाशवान् वस्तु (प्रबल क्रियमाणसे सृष्ट हुए तत्काल फलोन्मुख प्रारब्धके सुख) है, उसके लिये—दोनोंके लिये ही चेष्टा करना मानव-जीवनके अमूल्य समयका दुरुपयोग ही है, इन अनमोल क्षणोंको व्यर्थ खो देना है, या कौड़ीके मोल बेच देना है। चेष्टा तो हमें उस वस्तुके लिये करनी चाहिये जो बिना हमारी चेष्टाके अपने-आप हमें मिलनेकी है ही नहीं, तथा जो एक बार प्राप्त हो जानेके अनन्तर हमसे कभी पृथक् नहीं होती, मिलते ही हमें सदाके लिये परमानन्दमें निमग्न कर देती है, जिसे प्राप्त कर हम उस सुखका अनुभव करते हैं, जो नित्य एकरस रहता है, जिसमें दुःखका मिश्रण सर्वथा नहीं है। ऐसी वस्तु एकमात्र प्रभुके अतिरिक्त दूसरी है ही नहीं। एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं जो कर्मोंके फलकी भाँति हमें इस जीवनमें अपने-आप प्राप्त नहीं होंगे। उनके लिये तो हमें विशेष पद्धतिसे कुछ यत्न करना होगा। तभी वे मिलेंगे। और एक बार मिलनेके अनन्तर फिर अलग नहीं होंगे। मिलते ही उनका समग्र आनन्द हमारे अंदर व्यक्त हो जायगा, हम शाश्वत सुख-शान्तिका अनुभव कर कृतार्थ हो जायँगे तथा इस दिशामें प्रयास ही समयका सच्चा सदुपयोग है।

हममेंसे बहुतसे व्यक्ति ऐसे हैं जो जीवनकी अतीत घटनाओंको स्मरणकर दिन-रात चिन्तित रहते हैं, भली-बुरी बातें जो घट चुकी हैं, उनसे सुखी-दुखी होते रहते हैं। यह भी समयका दुरुपयोग ही है। घटनाएँ तो हमारे पूर्वकर्मके अनुसार घटी हैं। उनके लिये जब हमने कारणका निर्माण कर दिया था तो कार्य तो होकर ही रहता। यहाँ एक महलोंमें रहता है, दूसरेके लिये झोंपड़ीकी भी व्यवस्था नहीं; एकके यहाँ नष्ट करनेके लिये सम्पत्तिकी राशि एकत्र है, दूसरेके यहाँ पेट भरनेको दाने नहीं; एकका शरीर सदा नीरोग रहता है,

सुन्दरता अङ्गोंसे झरती रहती है, दूसरा अन्धा होकर जन्मा, एक पैर भी लँगड़ा था, जीवनभर बीमार भी रहता है; एकके जीवनमें पवित्रता, सद्गुण स्वभावसे ही भरे होते हैं, दूसरेमें क्रूरता एवं पशुभावका ही बोल-बाला होता है; एकके जीवनपथमें फूल बिछे होते हैं, वह क्रमशः उन्नत ही होता जाता है, सफलता पद-पद-पर उसका स्वागत करती है, दूसरेके पथमें काँटे फैले होते हैं, आगेकी गति सदा अवरुद्ध-सी रहती है, सदा निराशा, असफलता, जलन ही हाथ लगती है; एक तो अस्सी-नब्बे वर्षकी आयुका उपभोग करता है, दूसरा उत्पन्न होता है, और केवल क्षणभरके लिये संसारका प्रकाश देखकर पुनः मृत्युकी गोदमें समा जाता है। ये सारी बातें अपने-अपने विभिन्न कर्मोंके फलसे घटित होती हैं। इस कर्म-जगत्‌के सनातन नियमोंमें किसीके प्रति अन्याय नहीं होता, पक्षपात नहीं होता। जिसने जैसे बीज बोये हैं, जैसे कर्म सञ्चित किये हैं, वैसे ही फल, उसीके अनुरूप उसके लिये घटनाएँ बनेंगी। सञ्चितके अपार ढेरसे ही तो हमारे इस जीवनका प्रारब्ध बनता है। अपने बोये बीजके, अपने ही कर्मोंके फल ही तो हमें अबतक मिले हैं, उनका मिलना अवश्यम्भावी ही था। फिर वे तो भुगत ही लिये गये, समाप्त हो चुके, उनका खाता पूरा हो चुका। अब उनकी चिन्ता करके हम क्या लाभ पायँगे। उनका विचार करके हम अपना अनमोल समय क्यों खोयें ?

इसी प्रकार भविष्यमें क्या होगा, इसपर विचार करते रहना भी समय खोना है। सच पूछें तो भविष्य तो हमारे अपने हाथोंमें है। उसका निर्माण तो हम कर सकते हैं। यदि हम वर्तमानका सदुपयोग कर लें तो भविष्यका सुन्दर होना निश्चित है। प्रारब्धके वेगसे इस जीवनके अन्तिम क्षणतक अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त आकर भले प्राप्त हो जायँ। यदि हम वर्तमानके समयको ठीक-ठीक काममें ले लें तो फिर ये आकर भी हमें एवं हमारे मनको छू नहीं सकेंगे, कदाचित् हमारे मनको छू भी लें, तो उसे उद्विग्न नहीं कर सकेंगे, मनमें प्रतिक्षणकी बढ़ती हुई शान्तिके साम्राज्यको ये नष्ट नहीं कर सकेंगे और इसके बाद—इस जीवनके अनन्तर जो नवजीवन आरम्भ होगा, वहाँ उस भविष्यमें—तो हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण ही नहीं रह जायगा। यह नियम है, गोदाममें भरे हुए मालोंमेंसे वह माल पहले निकलता है, जो अन्तमें भरा जाता है। गोदाममें पहले चाहे प्याज-ही-प्याजकी बोरियाँ भरी हों, पर फिर अन्तमें यदि उसमें लगातार सब ओरसे केवल केसरकी बोरियाँ ही भरी जाने लगें तो निकालते समय केसरकी बोरियाँ ही पहले निकलेंगी, केसरके सुवाससे वातावरण सौरभ-मय हो उठेगा। इसी प्रकार अबसे—इस क्षणसे पहले हमारे कर्मकी गोदाममें चाहे अत्यन्त बुरे कर्मोंके ही संस्कार क्यों न भरे हों, पर हम अब वर्तमानके प्रत्येक क्षणोंको, अबसे आरम्भकर जीवनके अन्ततक, प्रभुकी खोजमें ही, खोजकी साधनामें ही व्यतीत करेंगे तो प्रभुसे ओतप्रोत संस्कार ही सञ्चित होते रहेंगे। नवजीवनका प्रारब्ध इन्हीं संस्कारोंको लेकर निर्मित होगा। और वहाँ इस संस्कारके सुवाससे हम तो निरंतर प्रफुल्लित, चिन्तारहित रहेंगे ही, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले-की भी दुर्गन्धि मिट जायगी। अतः वर्तमानका सदुपयोग करें। अतीत एवं भविष्यकी चिन्ता हम शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ दें।

अपने पहलेकी भूलोंको निरन्तर स्मरण रखते हुए पश्चात्तापके विचारमें निमग्न रहना भी समयका सच्चा सदुपयोग नहीं है। हाँ, यदि यह पश्चात्ताप सक्रिय (Positive) हो तब तो यह हमें जीवनके चरम उद्देश्यकी ओर बढ़ानेमें परम सहायक बन जायगा। सक्रिय पश्चात्तापका रूप यह है—जितना बुरा हमने किया है, उससे कई गुने अधिक भला, अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अंदर अधिक-से-अधिक जितना भला करना

सम्भव है, उतना भला हम करें। पत्थरके समान कठोर बनकर यदि हमने बहुतेरे हृदयोंमें घाव किये हैं तो अब मक्खनसे भी अधिक कोमल एवं स्निग्ध बनकर, हमें जहाँ-जहाँ घाव दीखें, उन्हें भरनेका सच्चा प्रयास करें। यदि अपनी क्रूर चेष्टाओंसे हमने लोगोंको जलाया है तो अब प्रेमका मधु पिलाकर सबको शीतल करनेका व्रत ले लें। यह हुआ सक्रिय पश्चात्ताप, अन्यथा उन गयी हुई बातोंको याद करते रहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

जो हो, समयका सच्चा सदुपयोग तो बस, यही है कि हम प्रभुकी खोजमें जुट पड़ें; और काम तो जैसे होने होंगे, हो जायँगे, हमारे बिना भी दूसरोंके द्वारा हो जायँगे, पर यह काम तो हमें ही करना पड़ेगा, हमारे ही किये होगा, दूसरा कोई भी हमारे बदले हमारे लिये इसे कर नहीं सकेगा। अतः इसीमें हमें लगना है, उन्हींको ढूँढ़ने चल पड़ना है। इस मार्गमें चलनेपर हमें एक विशेष पद्धतिका अनुसरण करना पड़ेगा। विशेष ढंगसे कुछ यत्न भी करना पड़ेगा। किन्तु साथ ही यह बात भी अवश्य है कि इसमें कोई खास परिश्रम हो, सो बात बिल्कुल नहीं है। क्योंकि 'आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः' वे प्रभु तो हम सबोंके स्वयं आत्मा ही जो ठहरे, उनकी उपस्थिति तो सर्वत्र है। उनको ढूँढ़ लेनेमें, उन अपनेसे अपनेको प्रसन्न कर लेनेमें परिश्रम ही क्या है?

लगन होनेपर पद्धतिका अनुसरण करना भी कोई खास कठिन नहीं है। बस, यही करना है कि सबसे पहले हमें उन्हें प्रत्येक रूपमें पहचानना है। अग्निके तत्त्वको तो हम जानते हैं। एक ही अग्नितत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। जो आग काठमें है, वही पत्थरमें है, वही बादलोंमें है, वही सूर्यमें है, वही हमारे शरीरमें भी व्याप्त है। किंतु यदि हम यह सोचें कि अग्निका रूप क्या है तो यही कहना पड़ेगा कि अग्नि जिस आधारमें व्याप्त है, वही उसका रूप है। एक ही अग्नि नाना रूपोंमें व्याप्त होकर उनके समान रूपवाला हो रहा है। अग्निमें तत्त्वतः कहीं भी कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही समस्त भूतोंके अन्तरात्मा प्रभु एक होते हुए भी नाना रूपोंमें रहकर उन्हींके-जैसे रूपवाले हो रहे हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठ० २।२।९)

इस तत्त्वको अच्छी तरह समझकर हम ठीक ऐसा ही अनुभव करनेकी चेष्टा करें। साथ ही यदि कदाचित् ऐसा अनुभव न होता हो, तब भी केवल इस सत्यपर विश्वास करके ही हम यह करें कि अपने आसुरभावको दबाकर, दूसरेको नष्ट करके स्वयं सुखी होनेकी भावनाको सर्वथा छोड़कर सब प्राणियोंके प्रति दया एवं सौहार्दका व्यवहार करें। बस, इतनी-सी बात ही अपेक्षित है। यदि हम यह कर सकें तो प्रभुकी प्रसन्नताके दर्शन होनेमें बिल्कुल देर नहीं होगी।—

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥
(श्रीमद्भा० ७।६।२४)

और यदि प्रभुकी प्रसन्नता हमने पा ली तो फिर हमारे लिये कौन-सी वस्तु अलभ्य रह जाती है?—

'तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये।'

—कुछ भी नहीं। कदाचित् शरीर नष्ट होनेसे पहले-पहले हम चेत जाते, चेतकर प्रत्येक क्षणका उपयोग इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये करते तो कितनी सुन्दर बात होती!

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३६)

वृन्दावन पहुँचनेके उद्देश्यसे सर्वप्रथम गोपोंकी अपार धेनुराशि यमुना-संतरण कर रही है। गोप बार-बार 'ही-ही' का तुमुलनाद करते हुए उन्हें उत्साहित कर रहे हैं, पार पहुँच जानेकी प्रेरणा कर रहे हैं। गायें भी अपने हम्बारवसे उन गोपरक्षकोंके आदेशका अनुमोदन-सा करतीं, उन्हें प्रत्युत्तर-सा देतीं, प्रखर धाराको चीरती हुई अग्रसर हो रही हैं। परिश्रमजन्य निःश्वासकी गतिसे उनके नासापुट विस्फारित हो गये हैं, संतरण-क्रियासे शरीरके आगेवाले अंश ऊपर उठे हुए हैं। इस प्रकार क्रमशः धाराको पारकर वे यमुनाके उस पार पहुँच रही हैं—

हीहीकारध्वनिभिरसकृद्वल्लवैः प्रेर्यमाणं
हम्बारावैरनुमतिकराण्युत्तराणीव कुर्वत्।
स्फायद्घोणं श्वसितपवनैरुन्नमत्पूर्वकायं
पार्श्वस्रोतस्तदथ यमुनां धेनुवृन्दं ततार॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

असंख्य गोवत्स भी निःशङ्क उस पार पहुँच रहे हैं। अभी उनके मस्तकपर सींग भी नहीं उगे हैं, छोटा-सा सुन्दर सिर है, पर संतरणके उल्लाससे वे परिपूर्ण हैं। शरीर भी छोटा ही है, इसीलिये अतिशय वेगसे, सुखपूर्वक वे धाराका अतिक्रमण करते जा रहे हैं। उनके लघुपुच्छके लोम जलसे भीगकर भारी हो चुके हैं। अतः वे उसका संचालन नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी उन्हें कोई भय नहीं है। उनकी जननी उनके आगे-आगे तैरती जो जा रही हैं। अपनी माताके पीछे-पीछे वे गोवत्स भी सर्वत्र सकुशल पार उतर रहे हैं—

श्रृङ्गाभाववशाल्लघूनि वदनान्युल्लासयन्तः सुखं
स्तोकत्वादपि वर्ष्मणोऽतितरसा निर्लङ्घयन्तो जलम्।
पुच्छानां सलिलाप्लुतौ गुरुतया नोल्लासनेऽतिक्षमाः
क्षेमं वत्सतराः प्रतेरुरभितः स्वस्वप्रसूपूर्वतः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जो नवप्रसूत, आजकलमें उत्पन्न हुए अत्यन्त छोटे गोवत्स हैं, स्वयं तैरकर पार जानेमें असमर्थ हैं, उन्हें संतरण-पटु गोप अपने कंधोंपर बिठाकर, स्वयं तैरकर उस पार ले जा रहे हैं। उनके चार पैरोंमेंसे दोको वामस्कन्धपर, दोको दक्षिणपर धारणकर, गोवत्सोंको प्रथम सुखपूर्वक पीठ एवं कंधेपर यथोचित बैठाकर, कहीं वे बीच धारामें कूद न पड़ें, इस भयकी रक्षाके लिये उनके चारों पैरोंको अपने वक्षःस्थलसे सटाकर एक हाथके द्वारा दृढ़तापूर्वक दबाये हुए एवं दूसरे हाथसे स्वच्छन्द तैरते हुए वे कुशल तैराक गोप उन्हें पार पहुँचा दे रहे हैं। आगे-आगे तो स्कन्ध एवं पीठपर गोवत्स धारण किये गोप तैरते जा रहे हैं एवं उनके पीछे-पीछे उन गोवत्सोंकी माताएँ 'हुम्मा-हुम्मा' करती रविनन्दिनीकी धाराको विदीर्ण करती अतिशय वेगसे संतरण करती जा रही हैं—

ग्रीवापीठेषु कृत्वोरसि मृदुचरणान् बाहुनैकेन रुद्ध्वा
वत्सान् सद्यःप्रसूतान् प्रतरणपटवो बाहुनान्येन केचित्।
स्वच्छन्दं संतरन्तः कलितकलघनस्वानमेषां प्रसूभिः
पश्चात् संगम्यमानास्तरणिदुहितरं गोदुहः संप्रतेरुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

उन परम श्रेष्ठ वृषभोंके यमुना-संतरणकी छटा तो निराली ही है। उनके पूर्ण परिपुष्ट विशाल ककुद्से कालिन्दीकी लहरें टकराती हैं, टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। स्रोतका वेग अत्यन्त प्रबल होनेपर भी ये बलदृप्त वृषभ अत्यन्त सरल भावसे तैरते जा रहे हैं। उनके ककुद्के निकट जलस्रोत किञ्चित् रुद्ध होकर ऊपर उछलने लगता है। तरङ्गें ककुद्का अभिषेक

करने लगती हैं । इस आघातसे उन वृषभोंको ऐसा भान होता है, मानो लहरें उनसे युद्ध करने आयी हों। वे क्रोधमें भरकर अतिशय सुन्दर मुद्राका प्रदर्शन करते हुए अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर लेते हैं तथा सींगोंसे लहरोंपर प्रहार करने लग जाते हैं । इस प्रकार बीच-बीचमें लहरोंसे खेलते, सिर उठाये, अपने दीर्घश्वास एवं संतरणकी वेगपूर्ण गतिसे धाराको क्षुब्ध करते हुए वे उस किनारे जा खड़े होते हैं—

पूर्णाभोगे तरङ्गान् सुमहति ककुदे जर्जरीभावमाप्तान्
ग्रीवाभङ्गाभिरामं प्रकुपितमनसस्ताडयन्तो विषाणैः ।
स्रोतो वेगेऽपि तुङ्गे त्वरितमृजुतरं पुङ्गवाः पुङ्गवाना-
मुन्मूर्द्धानोऽतिदीर्घश्वसितजवभरोद्धूतमम्भः प्रतेरुः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम अपने विशाल शकटपर व्रजेश्वरी एवं श्रीरोहिणीके पार्श्वमें खड़े रहकर अपार गोधनकी यमुना-संतरण-लीला देख रहे हैं । ऐसा अभिनव कौतुक प्रथम बार देखनेको मिला है । उनके आनन्दका पार नहीं । अपने करपल्लव नचा-नचाकर वे रोहिणीमैयाको, व्रजरानीको बार-बार किसी-न-किसी गोविशेषकी ओर, उसकी संतरण-भङ्गिमाकी ओर देखनेकी प्रेरणा करते हैं तथा रह-रहकर शकटसे कूद पड़नेको उद्यत हो जाते हैं । यदि दोनों माताएँ निरन्तर सजग न होतीं तो न जाने अबसे कितना पहले वे धारामें कूदकर सम्भवतः किसी तैरते हुए गोवत्सकी पूँछ पकड़ लेते । उनसे कुछ ही दूरपर एक ऊँचे टीलेपर खड़े व्रजेश्वर अपने साँवरे पुत्रकी आनन्दमुद्रा निहार-निहारकर नेत्र शीतल कर रहे हैं । पार जाती हुई गायोंकी व्यवस्थाको तो वे कभीके भूल चुके हैं । उनकी वृत्ति सब ओरसे सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्रमें लग रही है ।

जो हो, धीरे-धीरे धेनुसमूह, वृषभोंके दल—सभी पार हो गये, कालिन्दीके कर्पूरधूलि-पटलसदृश स्वच्छ सैकत तटपर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो गये। मानो संतरणजन्य परिश्रमके कारण थके-से होकर वे विश्राम कर रहे हों । इधर नौकाएँ एकत्र होने लगती हैं । गायें तो पार हो चुकीं, अब इन शकट-समूहोंको जो पार करना है । इन नौकाओंसे यमुनाके वक्षःस्थलपर सुन्दर सेतुकी रचना होगी और उसपर शकट एवं गोपी-गोप पार उतरेंगे । अस्तु, सेतुरचनामें कुशल गोप जुट पड़ते हैं । केवट उनके आदेशानुसार इस तटसे उस तटतक एक पङ्क्तिमें नौकाएँ खड़ी करते जा रहे हैं एवं कलाविद् गोप उन्हें काश, कुश, सरकंडे, बाँसके सहारे परस्पर सन्नद्ध करते जा रहे हैं । देखते-देखते दोनों किनारोंके मध्यमें अत्यन्त सुन्दर सेतु निर्मित हो जाता है । इतना सुदृढ एवं भयबाधाशून्य कि मानो एक विशाल राजपथ ही यमुनाकी लहरोंपर फैला हो !—

काशकुशशरवंशवरैरलङ्कर्मीणनिर्मितपरस्पर-
नद्धप्लवराजी राजपद्धतिरिवासम्बाधतया साधिता ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

उसी सेतुपर 'घड़-घड़' करती हुई शकटश्रेणी चल पड़ती है । पुनः व्रज-सुन्दरियोंका गायन आरम्भ होता है । गोपोंके आनन्दातिरेकवश उच्च हास्यसे आकाश गूँज उठता है । दल-के-दल युवक गोप नाचते-कूदते, नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते हुए चल पड़ते हैं । क्रमशः सेतुको पारकर सभी वृन्दावनकी भूमिमें पदार्पण करते हैं । राम-श्यामको अङ्कमें धारण किये श्रीरोहिणी एवं व्रजेश्वरी भी अपने विशाल रथपर आसीन हुई इस पार आ जाती हैं । बस, इस पार आने भरकी, शकट इस तटको छू भर ले, इस बातकी देर थी, फिर तो राम-श्यामको मैया रथपर बैठाये रख सकें, यह असम्भव है । मैयाकी सारी सावधानी धरी रह गयी, वे दोनों विद्युद्गतिसे शकटसे नीचे कूद ही तो पड़े । कूदकर सुबल, श्रीदाम आदि

सखाओंको अतिशय उच्च कण्ठसे पुकारने लगे। वे गोपशिशु भी मानो इस प्रेमिल आह्वानकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सब-के-सब एकत्र हो जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटनघटनापटीयसी योगमायाशक्तिके प्रभावसे अबतक प्रत्येक गोपशिशुको यही अनुभव हो रहा था, बृहद्वनसे यात्रा आरम्भ होनेके समयसे अबतक सबकी यही प्रतीति थी कि उसका रथ एवं श्रीकृष्णचन्द्रका रथ—दोनों ही सदा साथ-साथ चल रहे हैं, उसका रथ ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रके रथसे निकट है। फिर आह्वान पा लेनेपर उनके एकत्र होनेमें क्या विलम्ब होता! असंख्य रथोंपर आसीन वे गोपशिशु क्षणोंमें ही श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आ पहुँचते हैं। आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनकी शोभा निहारने उस ओर अग्रसर होने लगते हैं तथा ये गोपशिशु भी—कुछ उनके आगे, कुछ पीछे रहकर—साथ-साथ ही चल पड़ते हैं। प्रतिक्षण नव-नव शोभा धारण करनेवाले, अत्यन्त रहस्यपूर्ण इस वृन्दावनका तो कहना ही क्या है! जिधर दृष्टि जाती है शोभाकी राशि बिखर रही है। श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलराम कभी बायीं तो कभी दाहिनी ओर दृष्टिपात करते हुए, वनका पर्यवेक्षण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करने लगते हैं—

रामकृष्णौ च वद्धतृष्णावासादिततीरोपकण्ठावुत्कण्ठया भुवि शकटादुत्प्लुतौ प्लुतसम्प्लुताह्वानतः सुखसमन्वितं सखीनन्वग्विधाय प्रत्यग्रमपि प्रत्यग्रायमाणवैचित्रीगहनं गहनमवगाहमानौ सव्यापसव्ययोः पश्यन्तौ चरणचारितामेवाचरितवन्तौ।

(श्रीगोपालचम्पूः)

कविकी कल्पना आज सत्य हुई। उसकी रसनाकी ओटमें स्वरोंकी झंकार करती सुरसुन्दरीका स्वप्न आज मूर्त हो गया। कवि जब कभी भी शुक-पिक आदि कलकण्ठ वन-विहङ्गमोंकी काकली सुन पाता है तो उसे कल्पना-राज्यमें अनुभूति होती है, यह काकली नहीं, यह तो सङ्गीत-स्वरलहरी है। उसके नेत्र मन्द-समीर-सञ्चालित लतावल्लरियोंके स्पन्दनको नृत्यके रूपमें ही अनुभव करते हैं। मेघके समागमसे पृथ्वीपर उठी हुई अङ्कुरराशिको देखकर कविको यह भान होता है कि ये अङ्कुर नहीं, यह तो हर्षवश धरासुन्दरीको रोमाञ्च होने लग गया है। अपनी इस अनुभूतिको वह काव्यमें गुम्फित कर देता है। पर उसकी यह अनुभूति सार्वजनीन नहीं हो पाती। जनसाधारणके लिये विहङ्गम-काकली, लतास्पन्दन, भूमिका अङ्कुरोद्गम, सभी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं। किसीको इनमें गान, नृत्य एवं रोमाञ्चका अनुभव कदापि नहीं होता। कविकी कल्पना कल्पना ही रह जाती है, सत्य बनकर प्रकट नहीं होती। किंतु कदाचित् उसके नेत्र प्राकृत सौन्दर्यसे ऊपर उठ जाते, वाग्वादिनी भी कमलयोनिसे सृष्ट जगत्को भूलकर नित्य चिन्मय वृन्दावनको देखने लग जातीं, इस समय वृन्दावनमें विहरणशील श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन कर पातीं, वीणाधारिणीके नेत्रोंमें नेत्र मिलाकर कवि भी इस अप्रतिम सौन्दर्यकी झाँकी कर पाता और फिर काव्य-रचना होती, अनुभवको शब्दका रूप मिल जाता तो वह सौन्दर्योक्ति निश्चय ही कल्पना न होती, कल्पना प्रतीत होनेपर भी कविका वर्णन अक्षरशः सत्यका निदर्शन होता, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रका सान्निध्य पाकर आज विहङ्गमोंकी काकली काकली नहीं रही है, वास्तवमें ही सङ्गीतकी मधुर रागिणी बन गयी है; आज तरु-शाखाओंसे लिपटी लतावल्लरियाँ पवन-सञ्चारित होकर स्पन्दित हो रही हों, यह बात नहीं, अपितु वे श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे उल्लसित होकर सचमुच ही नृत्य कर रही हैं; भूमिपर अङ्कुरराशि उग आयी हो, यह नहीं, सत्य-सत्य ही वृन्दाकाननको धारण करनेवाली धराकी अधिष्ठात्री श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे रोमाञ्चित हो रही है। ये गायन, नर्तन,

पुलकोद्गम कविकी कल्पनामात्र नहीं, काव्यशास्त्रके रूपक अलङ्कारभर नहीं। ये तो चिदानन्द-परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके वृन्दावनमें पदार्पणसे व्यक्त होनेवाले स्वाभाविक परम सत्य परिणाम हैं। प्राकृत नेत्र-मन, भले इन्हें देख न सकें, इनका अनुभव न कर पायें, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके कृपाकणसे पूत हुए दिव्य-शक्तिविशिष्ट नेत्रोंके लिये तो ये नित्य सत्य हैं, वृन्दाटवी सचमुच ही इस समय एक अभिनव गान, नृत्य एवं पुलकोद्गम आदि अगणित आनन्द-अनुभावोंसे परिपूर्ण हो गयी है, अरण्यका अणु-अणु अपनेमें न समाते हुए आनन्दको विभिन्न अनुभावोंसे व्यक्त कर रहा है—

यद्गानं विपिनस्य कोकिलकले नृत्यं लताविभ्रमे
रोम्णामुत्थितमङ्कुरे च कवितं योग्यान्निदानादृते।
तन्मिथ्या यदि कृष्णसङ्गतिवशात्तस्मिंस्तथा वर्ण्यते
सत्यं तर्हि सदापि तत्तदखिलं यस्माद्दरीदृश्यते॥

(श्रीगोपालचम्पूः)

श्रीकृष्णचन्द्र कभी तो दौड़ते हैं और कभी किसी अतिशय प्रिय, स्निग्ध वयस्क गोपबालकके कंधेपर चढ़ जाते हैं। गोपशिशुओंका उत्साह भी बढ़ता ही जा रहा है। वे श्रीकृष्णचन्द्रको नव-नव निकुञ्जस्थलीकी ओर लता-पल्लव-जालसे आवृत सुरम्य वनस्थलीकी ओर सङ्केत करके ले जाते हैं एवं वहाँकी शोभा निहारकर प्रफुल्लित होते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने सखाओंको एक-से-एक सुन्दर स्थानोंका दर्शन करा रहे हैं, इस प्रकार मानो वे यहाँसे, यहाँके अणु-अणुसे चिरपरिचित हों। दल-के-दल मृग एवं मयूर अपनी भङ्गिमासे शुभ शकुनकी सूचना देते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख आते हैं, ललकभरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रहते हैं, फिर चौकड़ी भरते, नृत्य करते सघन वनकी ओटमें छिप जाते हैं। उन्हींका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भी इस कुञ्जसे उस कुञ्जमें, कभी तटसे वनकी ओर एवं कभी वनसे कालिन्दीकूलकी ओर अनवरत विचरण कर रहे हैं। यदि व्रजेश्वरीकी भेजी हुई परिचारिकाएँ उन्हें बुलाने न आ जातीं तो पता नहीं, श्रीकृष्णचन्द्र आज ही समस्त वनका निरीक्षण कर लेते। परिचारिकाओंके अनुरोधसे बाध्य होकर, उनके मनुहारसे द्रवित होकर वे जननीके समीप चल तो पड़ते हैं, पर दृष्टि बार-बार जा रही है गिरिराज गोवर्द्धनके चरणप्रान्तमें जानेवाले तरुलता-मण्डित सुरम्य पथकी ओर ही। यदि और किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब करके वे दासियाँ पहुँचतीं तो श्रीकृष्णचन्द्रको वहाँ कदापि नहीं पातीं। मृगशावककी भाँति दौड़कर एक बार तो वे आज ही उस परम सुन्दर अतिशय आकर्षक भूधरको अत्यन्त निकटसे देख ही लेते।

इधर नाविकोंको मुँहमाँगे पारितोषिक देकर, उससे भी बहुत अधिक देकर व्रजेश्वर उन्हें विदा करते हैं और पुनः फिर तूर्यनाद करनेकी आज्ञा देते हैं। 'नवीन व्रजपुर इसी वृन्दावनमें, यहीं इस वनखण्डमें बसने जा रहा है'—वह गगनभेदी तूर्यनाद इसीकी सूचना कर रहा है। आवास-प्रबन्धक सचेष्ट हो जाते हैं। गोप-पुरन्ध्रियाँ रथोंसे उतर पड़ती हैं। व्रजेश्वर एवं उपनन्दके मनमें नवीन व्रजपुरका मानचित्र पहलेसे ही प्रस्तुत है। वे प्रबन्धकोंको आदेश दे चुके हैं। उसके अनुसार ही वे सब गोप-परिवारोंको स्थानका निर्देश करते जा रहे हैं तथा गोपगण शकटोंसे ही अपने-अपने आवासका निर्माण करनेमें संलग्न हो जाते हैं। सदा सब कालमें परम सुखदायक इस वृन्दावनकी भूमिपर अर्धचन्द्राकारमें नवीन व्रजपुरकी रचना आरम्भ हो जाती है—

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ३५)

इहि बिधि श्रीबृंदाबन आइ।
निरखि अधिक आनंदहि पाइ॥

सकट कौ बान बनायौ ऐसौ ।
सुंदर अर्धचंद होइ जैसौ ॥

'शकटावर्त' नामक स्थानतक इस अर्धचन्द्राकृति पुरीकी रचना होती चली गयी । आठ कोस लंबी एवं चार कोस चौड़ी भूमिको यह नवीन व्रजपुर देखते-देखते ही घेर लेता है—

शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्धाकारसंस्थितम् ।
मध्ये योजनविस्तीर्णं तावद् द्विगुणमायतम् ॥
(हरि० विष्णु० ९ । २१)

अवश्य ही व्रजपुरकी आठ कोस यह दीर्घता एवं मध्यमें चार कोसकी विस्तीर्णता—यह मान, यह परिमिति लोकदृष्टिसे ही प्रतीत हो रही है । वास्तवमें तो यह अनन्त है, अचिन्त्यशक्तिसमन्वित है, इसकी कोई सीमा नहीं । चिदानन्दमय परब्रह्मकी, महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रकी यह पुरी है । उनके समान ही यह विभु है—

अष्टक्रोशीमायतं गोष्ठमेतन्
मध्ये तस्मिन् विस्तृतं चार्धमस्याः ।
एतन्मानं चात्र लोकस्य दृष्ट्या
शक्त्यानन्ताचिन्त्यधामत्वमेव ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

इसके ठीक मध्यमें व्रजेन्द्रका आवास निर्मित होता है । उनके पार्श्वदेशमें उपनन्द आदि भ्राताओंका । उनके आगे अन्य गोपकी शकटरचित गृहावली सुशोभित होने लगती है—

मध्ये राज्ञः सद्म तत् पार्श्वतस्तद्-
भ्रातॄणां तद्बाह्यतस्तत्परेषाम् ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

सबके परामर्शसे अन्य स्थायी व्यवस्थाएँ कल होंगी, आज तो जैसे-तैसे विश्राम कर लेना है— यह सूचना सबको मिल जाती है । फिर तो गोपगण निश्चिन्तसे होकर वनकी ओर चल पड़ते हैं । व्रजसुन्दरियाँ भी कलशोंमें जल भरने यमुना-तटपर चली जाती हैं । तटकी एवं वनपथकी शोभा निहारने लगती हैं, निहारकर विथकित रह जाती हैं । दल-की-दल, आनन्दविह्वल हुई, तरुशाखाओंको हाथसे खींचकर उनपर झूलने लग जाती हैं—

तोयमुत्तारयन्तीभिः प्रेक्षन्तीभिश्च तद्वनम् ।
शाखाश्चाकर्षमाणाभिर्गोपीभिश्च समन्ततः ॥
(हरि० विष्णु० ९ । २८)

जननीसे संलालित होकर श्रीकृष्णचन्द्र भी दाऊ भैयाके साथ सखाओंके सहित पुनः वनकी शोभा देखने निकल पड़े हैं । जिधर उनकी सलोनी दृष्टि जाती है, जिस ओर वे चरणनिक्षेप करते हैं, उधर ही प्रतीत होता है, मानो सौन्दर्य अधिष्ठात्रीके कोशमें जितनी शोभा सञ्चित है, सब-की-सब बिखेर दी गयी है । वन, गोवर्द्धन, यमुनापुलिन—सब ओरसे जैसे सौन्दर्य-स्रोतस्विनी उमड़ी आ रही हो । उसमें अवगाहन कर सौन्दर्यनिधि श्रीकृष्णचन्द्र एवं शोभाधाम श्रीबलराम आज आनन्द-मुग्ध हो रहे हैं—

बन बृंदाबन गोधन गिरिवर, जमुना-पुलिन मनोहर तरुवर ।
रसके पुंज, कुंज नव गहवर, अमृत समान भरे जल सरवर ॥
जदपि अलौकिक सुखके धाम, श्रीबलराम कुँवर घनस्याम ।
रीझे तदपि देखि छबि बनकी, उत्तम प्रीति लागि गई मनकी ॥
औरै सुक, सारिक, पिक, मोर, औरै अंबुज, औरै भौंर ।
रतन-सिखिर-गिरि गोधन-सोभा, निकसी मनहुँ नई छबि गोभा ॥
तिन बिच सुंदर रासस्थली, मनि-कंचनमय लागत भली ।
गिरि तैं झरत जु निर्झर सोहै, निर्जर नगर अमृत-रसको है ॥

छः प्रकारकी महत्त्वपूर्ण चार-चार बातें

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

चार प्रकारके मनुष्य

संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और नीच।

१. उत्तम मनुष्य वे हैं, जो अपने साथ बुराई करनेवालोंके प्रति भी बुराई न करके सदा भलाई ही करते हैं। ये मनुष्य प्रथम श्रेणीके हैं।

२. दूसरी श्रेणीके मध्यम मनुष्य वे हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ न तो भलाई करते हैं और न बुराई ही। उनका निश्चय होता है कि हमारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है या हो रहा है, इसमें प्रारब्ध ही कारण है। किसीका कोई दोष नहीं। वे तो बेचारे केवल निमित्तमात्र हैं।

३. तीसरी श्रेणीके वे कनिष्ठ मनुष्य हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ बुराई करते हैं और उनसे बदला लेनेका प्रयत्न करते हैं।

इन प्रतिहिंसापरायण लोगोंमें भी चार प्रकार होते हैं। प्रथम, जो बुराई करनेवालेके साथ बदलेमें तुरंत उतनी ही या उससे न्यूनाधिक बुराई करके बदला ले लेते हैं। द्वितीय, जो अनिष्ट करनेवालेके साथ स्वयं अनिष्ट न करके अदालतमें दावा कर देते हैं। तृतीय, जो अदालतमें न जाकर पंचोंके द्वारा दण्ड दिलवाते हैं और चतुर्थ, पञ्चोंसे कुछ भी न कहकर अनिष्ट करनेवालेको समुचित दण्ड मिले, इसके लिये परमात्मासे प्रार्थना करते हैं। ये चारों ही कनिष्ठ श्रेणीके मनुष्य होते हैं।

४. चतुर्थ श्रेणीके नीच मनुष्य वे हैं जो भलाई करनेवालोंके साथ भी बुराई ही किया करते हैं। ऐसे लोगोंके द्वारा किसीका भला होना सम्भव नहीं।

उपर्युक्त चारों श्रेणियोंके मनुष्योंके साथ अपना भला चाहनेवाले पुरुषको सदा सद्व्यवहार ही करना चाहिये।

चार याद रखने और भूलनेकी बातें

चार बातोंमें दो सदा याद रखनेकी हैं और दो सर्वथा भुला देनेकी।

याद रखनेयोग्य बातोंमें पहली बात है—(१) 'किसीके द्वारा अपने प्रति किया गया कोई भी उपकार।' दूसरेका उपकार याद रखनेसे उसके प्रति मनमें पवित्र कृतज्ञताके भाव आते हैं, नम्रता आती है, उसके हितके विचार और कर्म होते हैं जिससे हम उसके ऋणसे मुक्त हो जाते हैं और परिणाममें हमारा हित एवं कल्याण होता है। दूसरी बात है (२) 'अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें पश्चात्ताप होता है, दुबारा वैसी भूल न करनेके लिये प्रेरणा मिलती है और उस व्यक्तिको सुख पहुँचानेवाले हितकारक विचार और कार्य करके उससे और परमात्मासे क्षमा प्राप्त करनेका प्रयत्न होता है। यही इसका प्रायश्चित्त है, इससे पापका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भूलने योग्य दो बातोंमें पहली बात है (१) 'अपने द्वारा किया गया किसीका उपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें अभिमान उत्पन्न होता है, 'मैं उपकारक हूँ' और 'वह उपकार प्राप्त करनेवाला है' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठबुद्धि और उसमें हीनबुद्धि होती है जिससे उसके तिरस्कारको आशङ्का रहती है; और यदि कभी उसके आचरणमें कृतज्ञता नहीं दीखती तो अपने मनमें दुःख और उसके प्रति रोष भी हो सकता है। साथ ही उपकारकी स्मृति यदि प्रमादवश कहीं उसे लोगोंमें

कहलवा देती है तो उस उपकारका पुण्य नष्ट हो जाता है। अतएव अभिमानसे बचने और पुण्यकी रक्षा करनेके लिये उसे भुला देना चाहिये। दूसरी भुला देने योग्य बात है (२) 'दूसरेके द्वारा किया गया अपना अपकार।' इसे याद रखनेसे मनमें द्वेष, वैर और प्रति-हिंसाकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं और उनके कारण अनिष्टाचरण और पाप होनेकी सम्भावना रहती है। द्वेष और वैरके कारणसे चित्तमें सदा जलन रहती है और कदाचित् वैरजनित कोई क्रिया हो जाय तो नयी-नयी जलन पैदा करनेवाले परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये इसे भी भुला देना चाहिये।

चार प्रकारकी मुक्ति

चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य—भगवान्‌के दिव्य-लोकमें रहना; सामीप्य—भगवान्‌के समीप रहना; सारूप्य—भगवान्‌के रूपके समान रूपका प्राप्त करना और सायुज्य—भगवान्‌के रूपमें मिल जाना। मुक्त पुरुष भी चार प्रकारके होते हैं—

१. जो मुक्ति ग्रहण करते हैं और संसारका काम भी करते हैं। उनके सांसारिक कामका अर्थ है—भूले-भटके लोगोंको अपने विशुद्ध आचरणोंका आदर्श सामने रखकर और भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मार्गपर लगा देना।

२. जो मुक्तिके अधिकारी होकर भी मुक्ति नहीं लेते और भक्ति ही चाहते हैं। साथ ही लोगोंको भगवद्भक्तिमें लगानेका काम भी करते रहते हैं।

३. जो न तो मुक्ति ग्रहण करते हैं और न उपदेशादि कार्य ही करते हैं। निरन्तर एकान्त भाव-राज्यमें रहकर अपने प्रियतम भगवान्‌की प्रेमभावसे अनन्य भक्ति ही करते रहते हैं। 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।'

४. जो मुक्त होकर नित्य उपरत अवस्थामें स्थित रहते हैं; किसीके उद्धारादिकी कोई चेष्टा नहीं करते।

चार प्रकारके स्त्री-पुरुष

संसारमें साधारण स्त्री-पुरुष भी चार श्रेणीके होते हैं। प्रथम, जो यहाँ भी आनन्दमें हैं और परलोकमें भी आनन्दमें रहेंगे। दूसरे वे जिन्हें यहाँ भी दुःख है और परलोकमें भी दुःख ही भोगना पड़ेगा। तीसरे वे जिन्हें यहाँ तो सुख है; परंतु परलोकमें दुःख मिलेगा और चौथे वे जिन्हें यहाँ दुःख है; किंतु जो परलोकमें सुखके भागी होंगे। इनकी विशेष व्याख्या यों समझनी चाहिये।

१—मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके परलोक और ईश्वरमें विश्वास करते हुए जो लोग प्रेमपूर्वक भजन, ध्यान और सत्संग करते हैं, वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोकमें भी परम सुख प्राप्त करते हैं। यहाँ तो उन्हें भजन, ध्यान और सत्संगसे प्रसन्नता एवं शान्ति मिलती है और देहत्यागके बाद भजनके फलस्वरूप वे परमगतिको पाकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त करते हैं।

२—राग-द्वेषयुक्त, काम-क्रोध-लोभ आदिके चंगुलमें फँसे हुए कलहपरायण लोग, जो निरन्तर परस्पर वैर-विद्वेष, लड़ाई-झगड़े, गाली-गलौज, मार-पीट और मुकदमेबाजी आदिमें स्वभावसे ही लगे रहते हैं। ऐसे लोग यहाँ भी दुखी रहते हैं और परलोकमें भी दुःखको ही प्राप्त होंगे। यहाँ दिन-रात वैर-विरोधके कारण उन्हें जलते ही बीतता है और देह-त्यागके बाद वे इन पापोंके फलस्वरूप दुर्गतिको पाकर नाना प्रकारकी विविध योनिगत पीड़ाओं और नारकीय यन्त्रणाओंको भोगते हैं।

३—जिन्हें प्रारब्धके फलस्वरूप यहाँ नाना प्रकारके भोग-सुख प्राप्त हैं; परंतु जो भोगासक्तिमें फँसकर सर्वदा

कामोपभोगकी प्राप्तिके लिये झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदिमें लगे रहते हैं, वे यहाँ तो प्रारब्धजनित सुख भोगते हैं; परंतु परलोकमें उनकी दुर्गति होगी और वे महान् दुःखको प्राप्त करेंगे।

४—जो यहाँ निष्कामभावसे यज्ञ, दान, जप, ध्यान, तीर्थ-पर्व, व्रत-उपवास, सेवा-संयम और त्याग-तप आदिमें लगे रहकर कष्ट सहते हैं और लोक-दृष्टिमें दुखी माने जाते हैं; परंतु इन साधनों और तपस्याओंके फलस्वरूप देहत्यागके बाद वे परम गतिको पाकर सदाके लिये परम शान्ति और परम आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करेंगे।

चार प्रकारके भक्त

भक्त भी चार प्रकारके होते हैं। प्रथम, जो स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि भोगपदार्थोंके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे ध्रुव आदि। ये अर्थार्थी भक्त हैं। द्वितीय, जो भोगपदार्थोंके लिये तो भजन नहीं करते परंतु लौकिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे द्रौपदी, गजेन्द्र आदि। ये आर्त भक्त हैं। तृतीय, वे जिज्ञासु भक्त हैं, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी भगवान्‌से कुछ नहीं चाहते, केवल भगवत्तत्त्व जाननेके लिये निरन्तर भजन, ध्यान, सत्संग करते रहते हैं—जैसे उद्धव आदि। और चतुर्थ, वे निष्काम भक्त हैं जो मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते—जैसे प्रह्लाद आदि। प्रह्लादमें निष्कामभाव चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रकट होकर जब प्रह्लादसे बार-बार बड़े ही वात्सल्यभावसे वर माँगनेके लिये कहा तब प्रह्लादजी बोले—'भगवन्! मेरे मनमें कुछ भी इच्छा प्रतीत नहीं होती, पर जब आप बार-बार कह रहे हैं तब पता चलता है कि मेरे मनमें कोई छिपी इच्छा होगी। अतएव हे दयामय! आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये कि यदि कोई छिपी वासना हो तो उसका सर्वथा नाश हो जाय।' यही निष्काम भक्ति है।

श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय ७ श्लोक १६में उपर्युक्त चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन सबमें ज्ञानी भगवान्‌को अति प्रिय है—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
> (गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त छः तरहके चार-चार प्रकारोंको समझकर यदि लोग इससे लाभ उठावेंगे तो मैं अपने प्रति उनकी कृपा समझूँगा।

पुण्य-पद

सुमन रँगीले दिखे शोभा अनुपम दिखी,
चंचल हो चला फूल-फूल मन-भँवरा।
घूम-घूम मधुरस पान करनेको मिला,
अपने आपको गया भूल मन-भँवरा॥
एकसे लगन नहीं राग-रंगमें मगन,
झेल चला सुरभित-शूल मन-भँवरा।
जाता वनमालीके चरण-कमलोंके पास,
पाता पुण्य-पद अनुकूल मन-भँवरा॥

—लाला जगदलपुरी

सांस्कृतिक ह्रासके कारण

(लेखक—पू० योगिराज महर्षि स्वामी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

पराधीनताके पिछले १५० वर्षोंमें पाश्चात्त्य शिक्षा अथवा सभ्यताके बहुमुखी व्यापक प्रचारसे, जिसे राज्य-सत्ताश्रय भी प्राप्त था, जो बुराइयाँ और बीमारियाँ यहाँ उत्पन्न हो गयी हैं, उनकी ओर संस्कारी भारतीयोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है। वे उन बुराइयों और बीमारियोंको, जो पश्चिमी संसर्गकी देन हैं, मिटानेके स्तुत्य प्रयत्नमें लगे हैं। भारतीय संस्कृतिके सदाग्रही सत्पुरुषोंके प्रयत्नसे देशमें सांस्कृतिक उत्थानके सात्त्विक आयोजन सामने आने लगे हैं। जन्मना भारतीय किंतु शिक्षा-दीक्षासे अभारतीय बने हुए लोगोंको भी यह अनुभव होने लगा है कि भारतीय संस्कृतिके उच्च आदर्शोंमें, यदि मनसा, वाचा, कर्मणा उनका पालन किया जाय, तो विश्वके लिये परम शान्तिका सुखावह सन्देश निहित है।

भारतवर्ष प्रकृतिसे अध्यात्मवादी देश है। भौतिकताके लिये उसके निकट अनादर नहीं किंतु दूसरा स्थान है। वह भारतीय संस्कृतिको गवाँकर स्वराज्य भोगनेमें देशकी सांस्कृतिक हानि, और उसका पालन करते हुए स्वराज्य भोगनेमें देशका सांस्कृतिक उत्थान समझता आया है; क्योंकि भारतकी दृष्टिमें भारतीय संस्कृति दैवीसम्पदाका प्रतीक है। भारतवर्षका यह सहज विश्वास है और वह सत्य है कि जिस स्वराज्य-भवनकी नींव अभारतीय संस्कारोंपर अवलम्बित होगी, उसका ध्वस्त हो जाना निश्चित है। स्वराज्य होते हुए भी वह सुराज्य नहीं है। इसलिये भारतवर्ष प्रयत्न करता आया है कि देश अन्तर-बाह्य दोनों दृष्टियोंसे स्वतन्त्र बने। सच्चे भारतीयकी दृष्टिमें बाह्य स्वतन्त्रतासे मानसिक परतन्त्रताकी मुक्ति अर्थात् आन्तरिक स्वतन्त्रताका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। लोकमान्य तिलकके कार्य-कालमें जितना महत्त्व स्वतन्त्रता-प्राप्तिका समझा जाता था, उतना ही सांस्कृतिक संरक्षणके आयोजनोंका। उनके स्वर्गवासके बाद जो तत्त्व राजनीतिक क्षेत्रमें आगे आये, उन्होंने सम्भवतः अपनी शिक्षा-दीक्षाके कारण, सांस्कृतिक सदाग्रहको कोई विशेष स्थान न दिया। फलतः सांस्कृतिक आयोजन आश्रयके अभावमें अगलेसे पिछले पार्श्वमें चले गये। सार्वजनिक सम्पर्क-क्षेत्रमें रह गयी केवल राजनीतिकी आकर्षण-शील और मनोरम मधु-अंगुलि। जिसके रसास्वादनने समस्त भारतीयोंको अपनी ओर खींचकर सांस्कृतिक हलचलोंको निःसत्त्व और मन्द-रश्मि बना दिया। अप्रकटमें विदेशी हुकूमत भी यही चाहती थी।

अब स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद, जब राजनीतिकी मधु-अंगुलिका उतना आकर्षण नहीं रहा, तब देशवासियोंका सांस्कृतिक उत्थानकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। भारतका अपना शासन भी उन्हें इस दिशामें एक अच्छा प्रोत्साहन अथवा प्रेरणा है। जिसे पाकर कई प्रान्तोंके वयोवृद्ध एवं अनुभवी विद्वान् कांग्रेसी नेता भी सांस्कृतिक उत्थानकी प्रवृत्तियोंको समयोचित तथा आवश्यक मानकर उधर प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें यह अनुभव हो रहा है कि भारतने अपनी भारतीयता अथवा लोकपूज्य विशेषता गवाँकर केवल ऊपरी स्वतन्त्रताका उपभोग किया तो पर-प्रकर्षको पुष्ट और स्व-गौरवको सुतरां कृश करनेवाली उस स्वतन्त्रताका अर्थ ही क्या हुआ ? भाषा, भाव, वेष-भूषा, रहन-सहन तथा आचार-विचार इन सभीमें तो भारतीयताकी अमिट छाप होनी चाहिये। यह तब हो सकता है, जब हम पिछले विजेताओंके शासन-कालमें शुरू हुए अपने सांस्कृतिक ह्रासके कारणोंको समझकर उन्हें मिटानेका सतत प्रयत्न करें। सांस्कृतिक ह्रासके और कारण भी हो सकते हैं; किंतु मुख्यतया निम्नाङ्कित कारण हैं—

१—युगधर्मकी भावना।

२—पाश्चात्त्य शिक्षाका प्रभाव और संस्कृत-शिक्षाका अभाव।

३—संतों और ब्राह्मणोंद्वारा धर्म-प्रचारका अभाव।

४—वर्तमान शासनकी सांस्कृतिक उदासीनता।

अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।

किसे दोष दिया जाय ? यह धार्मिक अथवा सांस्कृतिक ह्रास विद्यमान युग-धर्मका ही प्रभाव अथवा परिणाम है। ऐसी धारणा बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी भी देखी और सुनी जाती है। वे प्रमादकृत धर्मापचय (ह्रास) को कालकृत अनिवार्य धर्मापचय मानकर मौन हो जाते हैं और अपने इस मौन-समर्थनमें श्रीमद्भागवतोक्त प्रह्लाद-स्तुतिका वह श्लोक* रख देते हैं, जिसमें भक्त प्रह्लादने भगवान्‌से युगानुरूप धर्मको

---

* इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। ३८)

पालन करनेका कथन किया है। फिर अल्पमति लोगोंकी तो कथा ही क्या है ? पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षित भारतीय भी, जिनकी विचारधाराका मूल स्रोत अथवा उद्गम-स्थान पश्चिम है, अपने बचावके लिये 'अयं तु युगधर्मो हि' कहकर अपने पश्चिमी प्रवाहानुगमनको पौरस्त्य सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं; प्रश्न उठता है कि जब 'युगधर्म' है तब 'युगरूपा हि वै द्विजाः' की उक्तिके अनुसार युगानुकूल आचरण करनेमें क्या दोषापत्ति है ? यह तर्क देखने-सुननेमें बड़ा आकर्षक है। किंतु इसे मानकर अपनी गन्तव्य दिशाका निर्णय करनेवाले भारतीयों-से मेरा कथन यह है कि यदि हमने आवागमन-शील प्रत्येक युग और शासनके साथ अपने धर्म और संस्कृतिको बदलनेकी कुत्सित परम्परा डाली होती तो आज भारत न तो भारत ही रहता और न स्वतन्त्र ही होता। हमारे धर्म और संस्कृतिने भारतभूमिके प्रति जो पूज्यत्वपूर्ण मातृभाव सिखाया है, उसीने मातृभूमि भारतकी मुक्तिके लिये त्याग-बलिदानके निमित्त, भारतीय युवकोंको तैयार किया। फिर युगधर्म, जिसके पीछे हम दौड़ते हैं, तो एक कालिक, अशाश्वत और चल है; सार्वकालिक, सनातन और स्थायी नहीं। इसलिये उस अनित्य वस्तुका अनुगमन न कर हिंदूधर्मके सनातन और सर्वजनोपकारक सिद्धान्तोंपर आधारित भारतीय सांस्कृतिक परम्पराका ही पालन करना चाहिये। यही सुविचारित, सुदृष्ट और सुखावह मार्ग है। इसीके अनुगमनमें देशका हित सुरक्षित है।

देवासुर-संग्रामके समय एक बार बलि राजाके उदयका युग आया। महर्षि भृगुने तदनुवर्ती होकर शताश्वमेधद्वारा बलिको सदातन इन्द्र बनाना चाहा। बलिसे दिये दानसे इन्कार करनेवाली अभारतीय आचरणकी माँग की गयी, किंतु सुदृढ़हृदय असुरराज बलिने विष्णु-भक्ति और भारतीय सत्यवादिताकी सांस्कृतिक परम्पराका त्याग नहीं किया। क्योंकि बलि युगधर्मको अस्थायी समझते थे। बलिसे वचन-भङ्ग और युगानुसारिताका आग्रह करनेवाले महर्षि अपनी एक आँख देकर घाटेमें रहे और राजा बलि अपने द्वारपर गदापाणि विष्णुको पाकर अमर और कृतार्थ हुए। इसी प्रकार त्रेतामें 'रावणका युग है' कहकर युगानुगतिक होनेवालोंकी कमी न थी, किंतु दूरदर्शी विभीषण सहोदर भाई होकर भी रावणानुयायी न हुए। क्यों ? इसलिये कि वे यह समझते थे कि रावणका प्रभाव और प्रताप युगीन होनेसे अस्थायी है। जो समाप्त होगा। इसलिये वे हरि-भक्तिकी भारतीय संस्कृतिपरक परम्पराके भक्त, घर और देशमें विद्रोही कहला-कर भी, बने रहे। द्वापरमें जब कंसका युग आया तब कितने ही 'वेतसीवृत्ति'वाले अपक्रमति यादव व्यासभगवान्‌के 'केचित् कंसानुवर्तिनः' इन शब्दोंमें कंसके अनुयायी बन गये। किंतु दूरदर्शी और सांस्कृतिक विश्वासवाले यादव कंसकी हलचलोंको युगवत् अस्थायी समझते हुए धर्म और संस्कृतिके रक्षणार्थ प्रकट होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक पराक्रममें विश्वास रखकर समयकी प्रतीक्षा करने लगे। उनके धैर्य और विश्वासने उन्हें श्रीकृष्णोदयकी सुरम्य बेला दिखा, उनके कष्टोंको दूर किया। इसी प्रकार महाभारत-कालमें भारतके अधिकांश क्षत्रिय युगानुवर्ती होकर दुर्योधनके साथ हो गये थे; किंतु विजयलक्ष्मी उन्हें मिली, जो युग-प्रवाहमें न बहकर पाण्डवोंके धर्मानुमोदित पक्षके साथ रहे थे। पितामह भीष्म कौरवपक्षमें रहे; किंतु उनकी दृष्टि युगानुसारिणी न होकर सनातन सत्यको देखती रही। वे समय-समयपर कौरवपक्षको सच्ची और खरी सुनाते रहे। द्वापरके बाद बुद्ध भगवान्‌का अभारतीय अनीश्वरवाद उनके युगतक ही भारतमें गृहीत और अनुगमित हुआ।

ये उपर्युक्त उदाहरण बताते हैं कि जो लोग युगधर्मकी आड़ लेकर भारतीय संस्कृतिकी सनातन तथा तथ्यपूर्ण परम्पराकी अवहेलना करते हैं। उनके विचार अभी विचार-वीथिमें ही हैं। वे विचार अपनी अपरिपक्वावस्थाको छोड़कर निश्चयके सोपानपर चढ़ने नहीं पाये हैं। ऐसे कच्चे विचार-वालोंको कविवर कालिदासने अपनी उत्कृष्ट रचना 'रघुवंश' में 'वेतसी-वृत्ति'वाले कहकर निकृष्ट बताया है। 'वेतसी-वृत्ति' का पर्याय 'अवसरवाद' है। ऐसे अवसरवादी लोग जगदीश्वर-की 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'की अखिल सामर्थ्यपूर्ण अद्भुत महाशक्तिमें प्रायः संशयशील होते हैं। वे यह नहीं जानते कि युगीन विचार एक सीमित युगमें जैसे पैदा होते हैं वैसे ही युगीन समाप्तिपर समाप्त हो जाते हैं। अतः सांस्कृतिक उत्थान और प्रसारमें युगधर्मकी भावनासे कोई बाधा या शिथिलता न आने देनी चाहिये।

२—यद्यपि पाश्चात्य संसर्गसे भारतको अनेक क्षेत्रोंमें कई प्रकारकी परिणाम-संदिग्ध सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, किंतु पाश्चात्य शिक्षाके अबाध प्रसारने भारतकी प्राचीन और विज्ञानपूर्ण वर्ण और आश्रम व्यवस्थाकी जड़ोंको शिथिल बना ब्राह्मणके शम-दमादि और क्षत्रियके शौर्य-तेज आदि सहजात गुण हर-कर उनमें अनेक अवगुण भर दिये। इस शिक्षाने वैश्यको

व्यापार-वृद्धिद्वारा देशको समृद्ध बनानेके स्पृहणीय गुणसे हीन बनाकर उसमें स्वार्थ, व्यापारिक छल-कपट तथा चोरबाजारको बढ़ानेके भाव भर दिये। अन्य वर्णवाले भी जो व्यापारिक वृत्तिधारी हैं, उक्त दोषोंसे बच नहीं सके हैं। चौथे वर्णके लोगोंको इस शिक्षाने अपने सहजात कर्मोंसे घृणा सिखायी और उनमें व्यतिक्रमके भाव भर दिये। जिनका दुष्परिणाम सामने है। इस शिक्षाने वर्ण-सांकर्य और कर्म-सांकर्य दोनोंको प्रोत्साहन दिया। और भारतीयोंकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) शक्तिको नष्ट कर दिया। यही कारण है कि दोनों सांकर्योंसे उत्पन्न हुए अनेक दोषोंको हम पहचान नहीं रहे हैं। प्रत्यभिज्ञा शक्तिके अभावमें मानसिक दासताके कुसंस्कारोंने हमारे हृदयको अपना घोसला बना लिया है। यही कारण है कि हमें अपने प्यारे देशके नाम तथा मातृ-भाषाके सहज स्नेहमें भी आस्था न रही। देखनेको तो आज केन्द्रिय राजप्रासादोंपर भारतका तिरंगा ध्वज है, किंतु हृदयमें अवतक अंग्रेजी कल्चरका ही प्रभुत्व बना हुआ है, नहीं तो, जिस देशके पास संस्कृत-भाषा-जैसा परमोज्ज्वल और अमोघ रत्न विद्यमान है, वह उसकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से शून्य होकर विदेशसे भीख माँगे, इससे अधिक लज्जाकी बात और क्या हो सकती है ! विदेशी शासनमें हमने अपने प्राचीन साहित्य और अनेक भाषाओंकी जननी संस्कृत-भाषाकी दयनीय उपेक्षा की है। उसीका परिणाम है कि हम मानसिक परतन्त्रतासे अद्यावधि अभिभूत हैं। संस्कृत-भाषा हमारी संस्कृतिका मूल है। वह हममें सांस्कृतिक जागरण लानेकी सामर्थ्य रखती है। अतः हमें उसका आदरपूर्वक प्रसारकर अपने हृदयको प्रत्यभिज्ञा शक्ति-सम्पन्न तथा स्वतन्त्र बनाना चाहिये जिससे कि राजनीतिक मुक्तिके साथ-साथ मानसिक परतन्त्रतासे भी मुक्ति मिल सके।

३—भारतवर्ष धर्मस्थानों, देवस्थानों, ऋषियों, मुनियों, यतियों और साधु-संतों तथा योगियोंका देश इसलिये कहलाता रहा है कि अतीतमें इन्होंने देश, धर्म और संस्कृतिके लिये बड़े-बड़े त्याग और कष्ट सहन किये हैं। जिनके कारण साधु-संस्था आजतक पूज्यभावसे देखी तथा सम्मानित की जाती है। इस संस्थाके पास जो चल अथवा अचल सम्पत्ति विद्यमान है, वह एकमात्र धार्मिक और सांस्कृतिक उत्थानके लिये ही विहित और दत्त है। उसका उपयोग विहित अर्थोंमें न होनेके नामपर ही दक्षिणका धर्मादा कानून सामने आया है और देशमें इस प्राचीन संस्थाके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन तथा असन्तोष फैल रहा है। विद्वान् ब्राह्मण, विशेषतः संत, महन्त, यहाँ और मठ-मन्दिरोंसे इतने ज्यादा चिपक गये हैं कि उन्होंने अपने धर्म तथा सांस्कृतिक प्रचारके सहजात कर्तव्यको प्रायः भुला दिया है। फलतः उनसे मिलनेवाला संस्कृति-संरक्षणका सन्मार्ग-प्रदर्शन बंद-सा हो गया है। अन्वेषण करनेपर गिने-चुने मुष्टिमेय साधु-संत और योगी ही ऐसे मिलेंगे, जो अपनी साधना, चरित्र-बल, विद्वत्ता तथा जन-कल्याणकी भावनाद्वारा जनताके लिये सच्चा मार्ग-दर्शन कराते हुए सांस्कृतिक प्रचारके अपने सहजात कर्तव्यका पालन करते हों।

विद्वान् ब्राह्मणों, विशेषतः उन संत-महन्तों और मठाधीशोंसे, जो अपने कर्तव्यके प्रति समयानुसार जागरूक हैं, निवेदन है कि देशमें सांस्कृतिक जागरणकी स्वागतयोग्य भावना प्रबल हो रही है। यही समय है, जब साधु-संस्था सांस्कृतिक उत्थानके क्षेत्रमें आगे आकर स्वार्थ-परमार्थ दोनोंकी रक्षाके साथ नयी व्यवस्थामें अपना स्थान पूर्ववत् सुरक्षित रख सकती है।

अंग्रेज भारतसे चले गये, किंतु अंग्रेजियत अभी चिपकी हुई है। उसका हमारे मानस-तलोंसे छूटना कठिन हो रहा है। यदि वह साधारण भारतीयोंसे चिपकी हुई होती तो उपेक्षा की जा सकती थी, किंतु देशके राजनीतिक कर्णधारोंतकपर उसका रंग चढ़ा है। उन कर्णधारोंमें भारतीय संस्कृतिके पोषक भी हैं, जो अपने प्रयत्नोंसे सांस्कृतिक संरक्षणको पुष्ट करनेकी स्तुत्य भावना रखते हैं। किंतु शासन-शकटमें जुतकर उन्हें प्रवाहानुगमन स्वीकृत करना पड़ता है। फिर भी कृतज्ञतापूर्वक हमें यह मानना चाहिये कि शासन-शकटके ऐसे संस्कारी भारतीयोंके सत्प्रयासके फलस्वरूप अल्पमात्रामें भारत-सरकारका ध्यान सांस्कृतिक प्रोत्साहनकी तरफ गया अवश्य है। भारतके सांस्कृतिक चिह्नोंको पत्र-मुद्राओंमें लेने और सोमनाथ-मन्दिरके संवर्द्धन-प्रयत्नसे शासन-शकटकी दिशा बदलनेका सूक्ष्म और सांकेतिक परिचय मिलता है। यदि दूरदर्शितासे देखा जाय तो जितनी प्रेरणा भारतीय युवकोंको देशहितार्थ, त्याग, बलिदान करनेकी भारतीय संस्कृतिने दी है, उतनी और किसी आधुनिकवाद और नवीन सभ्यताने नहीं। भारतीयधर्म और संस्कृतिने ही उन्हें यह सिखाया कि 'भारत भूमि' भारतीयोंकी माता है। प्रातःकाल शय्यासे उठकर नीचे पैर रखते ही प्रत्येक स्व-धर्म-रत हिंदू—

> समुद्रवसने देवि पर्वत-स्तनमण्डिते।
> विष्णुपत्नि नमो मातः पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

—इन शब्दोंमें भारतको माता कहकर अपने पद-स्पर्शकी क्षमा माँगता है। भारतीय हृदय-प्रदेशमें छिपी इस मातृ

भक्तिको, जो भारतीय संस्कृतिकी देन है, व्यक्तकर उससे राजनीतिक लाभ लेनेके लिये ही 'वन्दे मातरम्' की मनोवैज्ञानिक सृष्टि हुई। वर्तमान भारतीय राजनीतिके मध्यकालमें 'वन्दे मातरम्' के मनोज्ञ और सुमधुर गीतने भारतकी सोती हुई हृत्तन्त्रीको जगाया। फिर आज मातृत्वके पूज्य भावसे भरे हुए सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' के प्रति यह पुत्रौचित्यशून्य अकृतज्ञ भाव क्यों? किसकी तुष्टि और पुष्टिके लिये? जिस अभारतीय प्रकृतिकी प्रसन्नताके लिये यह किया जाता है, वह भूतमें न कभी तुष्ट हुई और न भविष्यमें हो सकती है। भारतका अनुभूत सिद्धान्त-वाक्य 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' तो यही बताता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विश्वकी महाशक्तियोंको हमें विभक्त करनेका अवसर देनेवाली त्रुटियोंपर निग्रहका अंकुश न रखा जाय। वह अवश्य रखना चाहिये, किंतु वह अंकुश तुष्टिमूलक न होकर सामर्थ्यमूलक हो। सांस्कृतिक भारत यही चाहता है। इसके उपलब्ध होनेपर वह नहीं कहेगा कि सांस्कृतिक ह्रासके कारणोंमें एक कारण, वर्तमान शासनकी सांस्कृतिक उदासीनता भी है।

आज देश अभारतीय कम्युनिज्मके आतङ्कसे सशंक है; किंतु यह सोचने और पहचाननेकी कोई चेष्टा नहीं कि आखिर यह बला आयी कहाँसे? यदि पश्चिमसे तो फिर हम अब भी तो सब बातोंमें पश्चिमकी नकल करनेसे रुककर उस भारतीय संस्कृतिकी ओर, जिसके लाखों वर्षोंके कालमें कभी कम्युनिज्म नहीं फैला, मुड़ जायँ। सच पूछिये तो एक भारतीय संस्कृति ही हिंसाप्रधान कम्युनिज्मको रोकनेकी सामर्थ्य रखती है। भारतीय संस्कृति सिखाती है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो बात तुम अपने लिये प्रतिकूल पाते हो, दूसरोंके लिये उसका आग्रह न करो। इसी प्रकार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' आदि कितने ही आदर्शसूत्र भारतीय संस्कृतिमें हैं, जिनका प्रचार हिंसाप्रधान कम्युनिज्मको रोककर विश्व-बन्धुताका पाठ पढ़ानेकी सामर्थ्य रखता है। देशके वर्तमान राजनीतिक कर्णधारोंसे निवेदन है कि वे देशवासियोंके सहज सांस्कृतिक आकर्षण अथवा प्रेमका आदरकर उससे लाभ उठावें। सांस्कृतिक पुकार यदि सच्चे हृदयसे निकले, तो देशकी आत्माको स्पर्श करती है। उसे लेकर आगे आनेवाले इस देशमें कभी विफल नहीं हो सकते। यह बात पिछले आन्दोलनमें लक्षावधि भारतीयोंके कारावास-स्वीकारसे सिद्ध हो चुकी है। आशा है, देशकी मङ्गलकामनासे किये गये इस निवेदनपर ध्यान दिया जायगा।

योग-भक्ति-निदिध्यासन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

योगदर्शनमें आये विरोधी वाक्योंका तात्पर्य

योगशास्त्रमें विभिन्न सूत्रोंके भाष्यमें उपर्युक्त स्वाध्याय तथा योगसम्बन्धी वचन आते हैं, जिनमेंसे एकमें तो यह कहा गया है कि योगसे ही योग जाना जाता है और दूसरेमें यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वाध्यायसे योग होता है और योगके पश्चात् स्वाध्याय करे। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर इन दो वाक्योंमें विरोध प्रतीत होता है, परन्तु एक ही शास्त्रमें आये हुए दो वाक्योंमें विरोध कदापि नहीं हो सकता। विचार करनेपर तो यही प्रतीत होता है कि जो भाव पहले दर्शाया गया है, वही इनका युक्तिसङ्गत अर्थ हो सकता है। योगसे योग जाना जाता है, यह वाक्य योग तथा स्वाध्यायके परस्पर सहयोगके खण्डन करनेके लिये नहीं है; इसका भाव तो यह है कि शास्त्र तो योग-भूमियोंके स्वरूपका निर्णय करता है; परन्तु जिज्ञासु किस भूमिके योग्य है; इस योग्यताका निर्णय तो उसके पूर्वकृत योगाभ्यासके तथा सामर्थ्यके बलपर ही हो सकता है। शास्त्र स्वतन्त्रतया किसीकी योग्यताका निर्णय नहीं कर सकता।

योगशास्त्रमें अश्रद्धाका कटु फल

वैदिक शास्त्रोंमें अश्रद्धा तथा स्वाध्यायरहित मार्गका अनुसरण करनेमें कितना महान् अनर्थ हो सकता है; यह योगदर्शनके (१। १९-२०) सूत्रोंके व्यासभाष्य तथा तत्त्ववैशारदी टीकामें वायुपुराणके उद्धृत वाक्योंके मननसे स्पष्ट प्रतीत होता है—

'यह असम्प्रज्ञातरूप परम योगके दो भेदोंका वर्णन है। श्रुतिमें श्रद्धा रखनेवाले, श्रुतिके श्रवण और मननके द्वारा परम लक्ष्य और उसके साधनोंकी शिक्षाके अनन्तर जो जिज्ञासु परम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये यत्न करते हैं, बीसवें सूत्रमें उनके मार्गका निर्देश किया गया है कि वे किस प्रकार क्रमसे सच्ची विवेकख्यातिद्वारा गुण-अधिकार समाप्त हो जानेपर, असम्प्रज्ञात स्वरूपस्थितिसे परम लक्ष्यकी सिद्धिमें

सफलमनोरथ होते हैं। वे संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और फिर संसारमें नहीं आते; परंतु जो लोग श्रुतिमार्गका अनुसरण न करके, अन्य मार्गोंका अवलम्बन कर असम्प्रज्ञात समाधि लाभ करते हैं, उनकी वह असम्प्रज्ञात समाधि स्वरूपस्थिति नहीं होती; वह एक प्रकारकी लय अवस्था होती है जिसको वेदान्तके ग्रन्थोंमें विघ्न कहा गया है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।

(योग० १ । १९)

व्यासभाष्य—

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ (१ । १९)

तत्त्ववैशारदी—श्लोकः वायुपुराणे

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वमितरेषाम् ।

(योग० १ । २०)

व्यासभाष्य—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते वीर्यस्य स्मृतिरुपातिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥

सांख्यदर्शन (३ । ५४), (३ । ४६-४७), सांख्यकारिका (४५) तथा ईशोपनिषद् (१२-१३-१४) में भी विदेह तथा प्रकृतिलयोंका वर्णन मिलता है—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानम् ।

(सांख्य० ३ । ५४)

दैवादिप्रभेदात् । (सांख्य० ३ । ४६)

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिरविवेकात् ॥

(सांख्य० ३ । ४७)

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥

(सांख्यकारिका ४५)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

(ईश० १२–१४)

विदेह तथा प्रकृतिलयकी अवस्थाएँ महान् परिश्रम करके योगद्वारा प्राप्त होती हैं और उन अवस्थाओंके अवस्थितिकालमें मोक्षके समान ही त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होती है; तभी इन अवस्थाओंमें मोक्षकी भ्रान्ति होती है। ये सब अवस्थाएँ दिव्यलोकके अधिपतियों (ब्रह्मा, प्रजापति, देवेन्द्र आदि) से भी अत्यन्त विलक्षण सुखदायी होती हैं। इन अवस्थाओंमें उनके वर्तमान रहते हुए दुःखका लेशमात्र भी नहीं होता। जब जिज्ञासु श्रुतिमें आस्तिक भाव न रखकर श्रुतिप्रतिपादित परम ध्येय ब्रह्म और उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानकी साधना तथा श्रुति-अनुकूल योगका अनुसरण न करके, केवल अपनी विचित्र मतिके आधारपर स्वतन्त्रतापूर्वक किसी योगविधिका अनुसरण करता है; जैसे भौतिक पदार्थोंमें ही चित्तवृत्तिका निरोध करता है; तो इस प्रकारके साधनोंसे वह विदेह तथा प्रकृतिलय दशाओंको प्राप्त कर लेता है और इन्हीं स्थितियोंको कृतकृत्यता मान लेता है, अतः परम ध्येयको नहीं प्राप्त करता। वह इन स्थितियोंमें दिव्य गतियोंके समान ही सहस्रमन्वन्तर वर्षोंतक अर्थात् अनेक वर्षोंतक त्रिविध दुःखरहित स्थितिका अनुभव करता है और फिर इस दुःखमय संसारमें लौट आता है। जब इस निरुद्ध स्थितिसे ऐसे जीवोंका उत्थान होता है तो वे पुनः संसारगतिको प्राप्त करते हैं; क्योंकि उनका अज्ञान अभी बना हुआ ही है; यह अज्ञान आत्मसाक्षात्कारसे नष्ट हो सकता है जो उनको नहीं हुआ। उनकी भूत, तन्मात्रा आदिमें ही आत्मभावना है। श्रुति-आदेशहीन योगके फलका यह कितना भयानक चित्र है। महान् सिद्ध शक्तिसम्पन्न योगियोंका भी यदि श्रुतिश्रवण आदिके तिरस्कारसे इतना महान् अनर्थ हो सकता है तो अन्य सामान्य अनासक्ति आदिको परम ध्येय

माननेवाले अथवा शास्त्र-श्रद्धा तथा स्वाध्यायहीन सामान्य योगमात्रको ही सर्वस्व समझनेवाले और सामान्य चमत्कारों या शान्त स्थितिमें ही अपने-आपको कृतकृत्य समझनेवालों-की भ्रान्त धारणाओंका दुष्परिणाम संसारगति होनेमें सन्देह ही क्या हो सकता है ? अतः शास्त्रमें अनन्य श्रद्धा रखकर उसका श्रवण (स्वाध्याय) ब्रह्मविद्याका प्रथम अनिवार्य साधन है । इसीलिये योगसूत्र (१-२०) में वेदोक्त योगके साधनोंमें श्रद्धाको प्रथम स्थान दिया गया है । क्योंकि वही श्रद्धा वीर्य (बल-धैर्य), स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञादि और वेदोक्त असम्प्रज्ञातरूपी योगके उपायोंकी जननी है । अतः श्रद्धारूपी जननीके अभावमें अन्य उपायों तथा फलोंका होना अत्यन्त असम्भव है । इसलिये विचारवान् साधकोंको योगके साथ-साथ स्वाध्यायको भी उपयुक्त स्थान देना चाहिये ।

योगके स्वरूप अथवा लक्ष्यसम्बन्धी भ्रान्ति

श्रुति और उसका अनुसरण करनेवाला योगदर्शन लक्ष्य तथा साधनको याथातथ्य प्रकारसे निरूपण करते हैं । योगके स्वरूप, साधनाके भेद, अनुभूतियोंका कार्यक्षेत्र तथा परम लक्ष्यका श्रुतिके संकेतके आधारपर भली प्रकार निरीक्षण किये बिना योगमें प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती । शारीरिक तथा मानसिक अनेक विघ्न योगमें उपस्थित हो सकते हैं । उनको पहलेसे ही सावधानीसे रोका जा सकता है । और उनके उपस्थित होनेपर उन्हें विघ्नरूपमें पहचानकर उनको निवारण भी किया जा सकता है ।

एक डाक्टर लेखकने योगपर एक ग्रन्थ लिखा है । इस ग्रन्थमें उसने योगका लक्षण इस प्रकार किया है कि श्वास-प्रश्वास तथा हृदयके स्पन्दनका निरोध करना योग है । इसी लक्षण तथा स्वरूपके आधारपर अन्य कई योगसाधनोंका उसने निरूपण किया है । उस ग्रन्थमें लिखा है कि योगी लोग दूध-फलका अल्पाहार करते हैं, एकान्तमें रहते हैं, मौन धारण करते हैं और गुफाओंमें निवास करते हैं, ये आचरण वे लोग इसलिये करते हैं कि CO_2 कम उत्पन्न हो । क्योंकि CO_2 कम पैदा होनेसे यौगिक हृदयगति रोकनेके कार्योंमें सुविधा होती है । CO_2 वह कार्बोनिक एसिड गैस है जो श्वासके रूपमें मुख-नासिकासे बाहर निकलती है । इस CO_2 गैसका तथा श्वास-प्रश्वासका इस प्रकारका वर्णन किसी प्राचीन योगग्रन्थमें नहीं है । हठयोगके ग्रन्थोंमें भी यह उल्लेख कहीं नहीं है कि गुफा आदिमें इसीलिये ही निवास किया जाता है । आजकल योगके चमत्कार दिखानेवाले ऐसे योगी अवश्य मिलते हैं जो जनताको हृदय तथा फुफ्फुसकी गति बंद करके दिखाते हैं । डाक्टर ऐसे अवसरपर परीक्षा भी करते हैं; इससे सामान्य जनता तथा डाक्टरोंको यह भ्रान्ति हो सकती है कि योगका लक्ष्य तथा कार्य श्वास-प्रश्वास तथा नाड़ीकी गतिको रोकता है । इस प्रकार वे योगियोंके आहार, निवास आदिके सम्बन्धमें यह धारणा कर सकते हैं कि ये योगी अपनी क्रियाएँ CO_2 कम करनेके लिये करते हैं; क्योंकि ऐसे योगियोंका मुख्य चमत्कार श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकना ही है । अब कई महानुभावोंने राजयोगके ग्रन्थोंकी व्याख्यामें भी इसी शैलीका प्रयोग किया है । डाक्टरकी उपर्युक्त परिभाषाके साथ CO_2 की बातका कुछ युक्तिसंगत मेल भी हो सकता है; परंतु राजयोगमें; जहाँपर योगका लक्ष्य चित्त-वृत्तियोंका निरोध या जीवात्माका परमात्माके साथ मेल आदि है; वहाँपर इस CO_2 के भौतिक विज्ञानके सिद्धान्तका कैसे सामञ्जस्य हो सकता है, यह बात समझमें नहीं आती । इस एक उदाहरणसे ही स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतिद्वारा निर्देश किये गये योगके स्वरूप तथा लक्ष्यको यदि सर्वदा सम्मुख न रक्खा जाय तो इस सम्बन्धमें भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है । और इस भ्रान्तिसे साधनादिमें भी भ्रान्ति अनिवार्य है । इस प्रकारकी अनेक भ्रान्तियोंके कारण साधक सफल-मनोरथ नहीं होता ।

योगकी अनुभूतियोंमें भ्रान्ति

योग अत्यन्त रहस्यमय है । सामान्य बुद्धिसे इस कार्य-क्षेत्रका निर्णय करना असम्भव है । जैसे एक समुद्रमें गोता लगानेपर अनेक पदार्थ हस्तगत होते हैं—रेत, पत्थर, मोती, हीरे और हीरोंमें भी बहुत भेद होता है छोटा, बड़ा, अच्छा, बुरा आदि । इन पदार्थोंका भेद-ज्ञान न हो तो मनुष्य जो कुछ भी उसे मिल जाय उसको ही हीरा समझनेकी भूल कर सकता है या हीरेको पत्थर समझकर फेंक भी सकता है । ऐसी भूल तथा मूर्खताके कारण मनुष्य जीवनकी बाजी लगाकर, समुद्रमें गोता लगाकर भी फलसे वञ्चित रह जाता है । ठीक इसी प्रकार योगरूपी क्षेत्र महान् रत्नोंसे भरा समुद्र है । इसका अनुष्ठान करनेपर अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं । जो मूल्यवान् होते हैं उनमें भी अधिक-कम मूल्यके अनेक तारतम्य होते हैं । इनके भेदको न जानता हुआ साधक भूल कर सकता है और वह निरर्थकको मूल्यवान्, मूल्यवान्को निरर्थक या कम मूल्यवालेको अधिक

मूल्यवाला समझकर वैसा आचरण करके विफलमनोरथ हो जाता है। योगसिद्धिकी पहचान तथा उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्र-ज्ञान तथा धैर्यकी बहुत आवश्यकता है। जब चित्त-वृत्तियोंका सामान्य निरोध भी होता है तो भी उसका कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य होता है। पहले तो साधकके अपने प्राचीन संस्कार ही वृत्तिका रूप धारण कर लेते हैं, वह इनको ही सूक्ष्म जगत्के यौगिक अनुभव मान लेता है तथा इस सामान्य तुच्छ रेतको ही योगकी सिद्धि मान बैठता है।

जैसे इस जगत्में अनेक प्रकारके भले-बुरे मनुष्य होते हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म जगत्में भी असुर तथा देव-आत्माएँ तथा शक्तियाँ होती हैं। प्रारम्भिक जिज्ञासुके लिये इनमें भेद करना कठिन होता है। इसे जो भी अनुभव होता है, यह उसे ही अपने लोभ, मोह या अभिमानके वश होकर दिव्य, तथ्य और परमोपयोगी अनुभव मान लेता है। उसके अपने प्राचीन दबे संस्कार अपनी पूर्तिके लिये अनेक रूप धारण कर लेते हैं और आवेशके रूपमें पूर्ति चाहते हैं जिसका मनुष्यको ठीक बोध नहीं होता। किसी ऐसे अनुभवके दृश्य, शब्दादिको परम सत्य मान लेना बड़ी भूल है। जिस परम सत्यकी उपलब्धिके लिये 'अनेकजन्मसंसिद्धि' कहा गया है, उसे थोड़े ही दिनोंमें हस्तगत कर लेनेकी दुराशा केवल अभिमान तथा अज्ञानके कारण ही हो सकती है। बहुधा मनुष्य अधीरताके कारण उपयुक्त परीक्षा नहीं करता। दस बातोंमें यदि एक सच्ची और नौ झूठी निकलती हैं तो उन नौकी उपेक्षा करके एकका अधिक मूल्य लगाता है और उसके आधारपर दिव्य सन्देशकी घोषणा कर देता है। एकाध भविष्यकी वार्ता तो अनुमानसे भी ठीक निकल सकती है, इस एकाधसे वास्तविक सिद्धिकी क्या सम्भावना; परंतु मोह तथा अभिमान इन सन्देशों तथा वाणियोंमें असल-नकलकी तुलना नहीं करने देते। अपने ऐसे मनोभावों और आकाङ्क्षाओंको ही दिव्य सन्देश तथा दर्शनोंका ही नाम दे दिया जाता है। जो देवताओंके या अन्य दिव्य दर्शन कहे जाते हैं सम्भवतः वे भी संस्कारवश मिथ्या या आंशिक रूपसे सत्य हो सकते हैं। यदि उनके सत्य या मिथ्याका निश्चय करना हो तो उनके प्रभाव आदिकी विवेचना करनी आवश्यक होती है। परंतु आरम्भिक साधकमें न तो इस विवेचनाकी योग्यता होती है और न उसे ऐसा विश्लेषण करना प्रिय लगता है। वह तो अपने वृथा अभिमानके कारण जो कुछ भी उसके सामने आता है, उसपर भूखेके समान टूट पड़ता है। ऐसी अवस्थामें शुद्धाशुद्ध तथा सत्यासत्यविवेकका धैर्य ही दुर्लभ होता है। कई साधक अल्पकालकी साधनामें ही ऐसा मानने लगते हैं कि उन्हें वास्तविक दिव्य तथा सगुण दर्शन हो रहे हैं; परंतु उनके जीवन, व्यवहार तथा मानसिक सन्तोष और शान्ति आदिमें कुछ अन्तर नहीं आता। क्या शास्त्रमें भगवद्दर्शनका यही फल वर्णन किया गया है कि भगवद्दर्शन भी हो जाय और जीवन भी वैसा-का-वैसा अशान्त तथा विषयासक्त बना रहे। भगवान्के किसी रूपका दर्शन भी जीवनको आनन्दमय बना देता है; उसकी एक झलक भी एक बारमें ही संसार-दृष्टिको परिवर्तित कर देती है। भगवान्के दर्शनके पश्चात् भी वही राग-द्वेष तथा लोभादिसे युक्त व्यवहार कैसे रह सकता है? ऐसे तामसिक व्यवहार तो दर्शनाधिकारी अभ्यासीके दर्शनसे पूर्व ही निवृत्त हो जाते हैं; दर्शनके पश्चात् इनके ठहरनेकी बात ही क्या है? यह दिव्य दर्शन सम्पूर्ण जीवनको दिव्य बना देते हैं। कोई भाग्यवान् ऐसे दर्शन पाकर विस्मित होता है कि उसके लिये संसार कैसे परिवर्तित हो गया है, उसकी कायापलट हो जाती है। मनुष्य चित्रमें भी तो भगवान्के सगुणरूपके दर्शन करता है, इस दर्शनसे जीवनमें क्या विशेष परिवर्तन हो जाता है। यह चित्र इहलौकिक है, दिव्य नहीं; अतः उसका प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही मनोभावनासे कल्पित दर्शन वास्तविक दिव्य दर्शनसे भिन्न है। इनका प्रभाव मनुष्यके मन तथा जीवनपर कुछ नहीं होता। परंतु इस प्रकारका भेद तथा मीमांसा करनेका जिज्ञासुके पास विवेक नहीं होता और न ऐसा करना उसको अच्छा लगता है; क्योंकि वह तो झट उसको सत्य मानकर योगोपाधि ग्रहण करनेको उत्सुक होता है, यह उत्सुकता उसकी विवेचना-शक्ति तथा सत्यासत्यनिर्णयकी सामर्थ्यको हर लेती है। इस प्रकार कुछ योगमार्गाभिमानी लोग झट बैठनेपर दिव्य प्रकाश आदि करना-कराना चाहते हैं। इन बातोंसे सिवा अपनी तथा दूसरोंकी वञ्चनाके और कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे ही योगकी अनुभूतियाँ अनेक प्रकारकी होती हैं। योगमें ज्ञान, आवेश, शक्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रकारकी होनेवाली अनुभूतियोंका विस्तृत विवेचन करनेका यहाँ न तो अवकाश है और न आवश्यकता ही है। इनके तथ्यातथ्य-निर्णय करनेके लिये शास्त्रबोध ही सहायक है। यह सत्य है कि ऐसे गुह्य अध्यात्मशास्त्रका स्वरूप भी किसी अनुभवीके द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अन्यथा जिज्ञासु कई यथार्थ वर्णनोंको कल्पनामात्र कह देता है अथवा किसी

कल्पनाका (वर्णनका) वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसका केवल शब्दपाण्डित्यसे निर्णय नहीं हो सकता। अनुभवी महात्मा तो अत्यन्त दुर्लभ हैं ही, उनके महत्त्वका निरादर कौन कर सकता है; परंतु श्रुति तथा ऋषिप्रणीत अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थ भी रहस्यमय ब्रह्मविद्याके सच्चे अनुभवोंसे भरे हुए हैं; अतः शास्त्रमें अनन्य श्रद्धा रखकर उनका सदुपयोग करना ही युक्तियुक्त मार्ग है। भौतिक विज्ञानके विषयोंमें प्राचीन विद्वानोंके आविष्कारोंसे लाभ उठाये बिना स्वतन्त्र रूपसे मनुष्य क्या उन्नति कर सकता है। जैसे विज्ञानके क्षेत्रमें उन्नतिके लिये प्राचीन विद्वानोंके आविष्कार-सम्बन्धी ग्रन्थ, वर्तमान शिक्षक तथा यन्त्रोंका प्रयोग और अन्य प्रकारके प्रयत्न—ये तीन भिन्न-भिन्न साधन परस्पर सहायक हैं और उनके समुच्चय प्रयोगसे ही सफलता हो सकती है। अध्यात्म-विद्याके क्षेत्रमें तो यह नियम और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि यह विद्या अति रहस्यमय है तथा श्रुति सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, परमहितैषी ईश्वरप्रणीत है और ऋषियोंके अनुभव इसका अनुमोदन करते हैं। वर्तमानकालीन साधारण योगाभ्यासी प्राचीन ऋषियोंके समुच्चय अनुभवसे अपने अनुभवकी सामान्यतया कैसे तुलना कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि वर्तमान कालमें अध्यात्मविद्याके दो सहकारी तथा उपयोगी साधन 'श्रुतिका स्वाध्याय' तथा 'योग' पृथक्-पृथक् हो गये हैं, अतः परमलक्ष्यकी सिद्धिमें बाधा उपस्थित हो रही है जिससे श्रुति-सिद्धान्तके प्रति विमुखता बढ़ती जाती है। शास्त्रपरायण विद्वान् शास्त्रा-ध्ययन-अध्यापनको ही ब्रह्मविद्याका एकमात्र, परम तथा पर्याप्त साधन मानते हैं। ब्रह्मको औपनिषद-तत्त्व मानते हैं; [जो ठीक ही है] वह उपनिषदेकगम्य है, इसलिये वे लोग योगोपासना आदिको अज्ञानमूलक कहकर उनका तिरस्कार करते हैं और इन साधनोंको उचित स्थान नहीं देते। दूसरा वर्ग योगमार्गवालोंका है। वे केवल योगसे ही परम सिद्धिका होना मानते हैं। श्रुतिके अध्ययनको विवाद, संशय, अश्रद्धा आदिका कारण मानते हैं और उसमें श्रम करनेको वृथा तथा इन दूषणोंको उत्पन्न करनेवाला मानते हुए श्रुतिके अध्ययनको परम लक्ष्यमें बाधक मानते हैं। ये दोनों वर्ग आग्रहके कारण श्रुति तथा विचार-युक्ति-सम्मत दोनों श्रेय-साधनोंके समुच्चयका अनुसरण नहीं करते। अतः विफलमनोरथ होते हैं। इसलिये विचारशील जिज्ञासुओंको परम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये इन दोनों परमोपयोगी साधनोंका उचित सदुपयोग करना चाहिये। शास्त्र-अध्ययन बिना योगके पङ्गु है और योग बिना शास्त्राध्ययनके अन्धा है। इन दोनोंका मेल ही एक दूसरेकी अपूर्णताको दूर करके मनुष्यको पूर्णताकी ओर ले जा सकता है।

यम-नियम

योगकी उपयोगिता तथा इसके सहकारी श्रुति-श्रद्धा-अध्ययन आदिका विवेचन हो चुका है। इसी बीचमें योगके कतिपय विघ्नोंका भी चेतावनीके लिये और असम्प्रज्ञात-समाधिके दो भेद और इनमें कौन-सा हेय तथा कौन-सा उपादेय है, इन सब विषयोंका निरूपण हो चुका है। अब योगविषयक कई अन्य उपयोगी बातोंका निरूपण किया जाता है।

समाधान-प्रकरणमें इस विषयका निरूपण हुआ है कि समाधियोग तथा उपनिषद्-विद्याके अभ्यासका सच्चा अधिकारी वही है जो एकाग्रभूमि—समाहित चित्तवाला हो। विक्षिप्त चित्तवालोंके लिये योगके साधनपादमें अन्य उपयोगी पाँच बहिरङ्ग साधन बताये गये हैं। इन पाँचमेंसे पहले दो यम-नियमोंका निरूपण (२। ३०–३२) सूत्रोंमें किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २। ३०)

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २। ३२)

इन्हींका ही साररूपमें प्रजापतिके प्रथम दो उपदेशोंमें वर्णन है; जिनपर आचरण कर लेनेके पश्चात् ही जिज्ञासुको देवताओंके उपदेश इन्द्रिय-दमन अर्थात् वैराग्य-अभ्यास आदिका अधिकार प्राप्त होता है। समाधि-अभ्यासवालेके लिये इन यम-नियमोंका अनुष्ठान स्वाभाविक होता है और विक्षिप्त चित्तवालेको इनका अनुष्ठान यत्नसे करना पड़ता है, परंतु इनके अनुष्ठानके विना किसी अध्यात्ममार्गोपयोगी योगका अभ्यास नहीं हो सकता। हठयोगका भी कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलेगा, जिसमें सबसे पहले इनका उपदेश न मिले। परंतु आजकलके भोगप्रधान युगमें यम-नियमकी ओर कम ध्यान दिया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युगमें इनका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है; परंतु कठिन होनेसे ही इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके विना प्राणायामादि सभी योगसाधन निरर्थक कुञ्जर-स्नानके समान

होते हैं तथा अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुस्साध्य रोगोंका कारण बन सकते हैं और सर्वसाधारणमें योगसम्बन्धी अश्रद्धाकी वृद्धिका कारण बन सकते हैं। इसलिये यम-नियमों-की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। यम-नियमका पालन करके आभ्यन्तर शुद्धिकी ओर हठयोगकी षट्क्रियासे घट-शुद्धिकी अपेक्षा अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यम-नियम अर्थात् खान-पानका संयम तथा ब्रह्मचर्यादिके बिना यह षट्क्रिया भी दुःसाध्य रोग उत्पन्न कर देती हैं। इसका सामान्य निरूपण प्रजापतिके उपदेश तथा कर्म-प्रकरणमें हो चुका है। अतः यहाँपर इनकी उपयोगितापर विशेष विचार नहीं किया जाता।

हठयोग-षट्क्रिया प्राणायामादि

आसनों तथा षट्क्रियाओंका विधान हठयोगसम्बन्धी ग्रन्थोंमें किया गया है। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक होता है। केवल शारीरिक नीरोगताके सम्बन्धमें चमत्कारी प्रभावके कारण ही इनका उल्लेख नहीं है। यद्यपि दुःसाध्य रोगोंका निवारण भी इनसे हो सकता है। आजकल केवल इनकी शारीरिक उपयोगिताकी दृष्टिसे अनेक ग्रन्थ यौगिक चिकित्सापर लिखे गये हैं जिनमें आसनों आदिका सविस्तर निरूपण होता है। ऐसे कई योग-आश्रमोंकी स्थापना हुई है जिनमें विशेषतया केवल शारीरिक उपयोगिताकी दृष्टिसे इनकी शिक्षा होती है। इससे सामान्य जनताको यह भ्रान्ति होती है कि यह आसनादि ही योग हैं और इनका लक्ष्य केवल शारीरिक नीरोगता आदि ऐहिक लाभ है। यह बात भी सत्य है कि इन आसनादिमें ये सब ऐहिक लाभ शारीरिक नीरोगता आदि पहुँचानेके गुण हैं और जिनकी दृष्टि केवल ऐहिक लाभपर है वे भी इनकी ओर इसीलिये आकृष्ट होते हैं और वे लोग इनकी आध्यात्मिक मार्गमें गौणरूपसे ही उपयोगिता मानते हैं। क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का विचार भी उनके सम्मुख रहता है। परंतु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। क्योंकि हठयोग आदि ग्रन्थ भी अध्यात्मविद्याका निरूपण करते हैं; चाहे ये वैदिक ग्रन्थ नहीं हैं; परंतु इनमें भी इन क्रियाओंका उल्लेख मुख्यतया आध्यात्मिक प्रभावकी दृष्टिसे किया गया है। हठयोगप्रदीपिका (१। ३९-४०-४१) में सिद्धासनके लाभ इस प्रकार वर्णित हैं—

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम्॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्॥
उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति॥
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते॥

अर्थात् बहत्तर हजार नाड़ियों (जिनका वर्णन प्रश्नोप-निषद् (३–६) तथा कठोपनिषद्में मिलता है) के मलको शोधन करना तथा बारह वर्षतक इस आसनका अन्य अङ्गों-सहित अभ्यास करनेसे उन्मनी समाधिकी सिद्धि आदि आध्यात्मिक लाभोंका यह उल्लेख है। इन आसनोंका मुख्य प्रयोजन यह आध्यात्मिक लाभ ही है। इसी प्रकार षट्-क्रियादिका उपयोग भी इसी दृष्टिसे किया गया है (हठयोग-प्रदीपिका २–४)। इनका तात्पर्य यह है कि षट्क्रिया आदिका निरूपण केवल शारीरिक आरोग्य-सम्पादनके लिये नहीं है; शारीरिक नीरोगता तो गौण है और उन्मनी अवस्था-की प्राप्ति मध्य-मार्गप्रवेश तथा कुण्डलिनीके जागरणमें सहायक होना इन सब साधनोंके मुख्य उद्देश्य हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टिकोणको लेकर हैं। यहाँपर इन सबका विस्तारसे निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। विस्तृत निरूपणके पश्चात् भी इनके अनुष्ठानके लिये किसी जानकारकी सहायताकी आवश्यकता रहती है। केवल किसी ग्रन्थके वर्णनके आधारपर इन आसन, षट्क्रिया, प्राणायाम आदिको कोई विध्यनुसार नहीं कर सकता। अन्यथा अनेक भयानक प्राणनाशक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः बिना किसी दक्ष, अनुभवी, निपुण गुरुके इस मार्गमें प्रवेश कदापि नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'फिर पछताये होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गयीं खेत'—वाली उक्ति चरितार्थ होगी।

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः॥
(हठयोगप्रदीपिका २। १६)

'भली प्रकार किये गये प्राणायाम आदि साधनोंसे सब रोगोंका नाश होता है और अयुक्त ढंगसे किये गये योगके अभ्यास सब रोगोंको उत्पन्न करते हैं।' यहाँपर हमारा उद्देश्य इन साधनोंकी मर्यादा, अवधि तथा उपयोगितापर विचार करना है। क्योंकि उचित मर्यादा ही सर्वत्र दुर्लभ है। एक वर्ग ऐसा दीखता है जो इन क्रियाओंको ही और इनके शारीरिक लाभको ही योग मान लेता है और अपनी सम्पूर्ण आयु इन्हींके अभ्यासमें खपा देता है एवं परम लक्ष्यसे कोरा-कोरा रह जाता है। दूसरा वह वर्ग है जो इन साधनोंको योग-सिद्धिके लिये परमोपयोगी तथा अनिवार्य मानता है। वह

यम-नियमादिद्वारा भीतरी शुद्धिको भी उतना महत्त्व नहीं देता जितना इन साधनोंको। इस प्रकार इन साधनाओंका अति प्रयोग हो जाता है। काल, अवस्था आदिको विना विचारे इनको अनिवार्य मान लिया जाता है। इनको अध्यात्मयोग-साधनाका सर्वस्व मान लेना भूल है; क्योंकि इनके स्थानमें सात्त्विक मिताहारमात्रसे भी दीर्घकालतक रहनेसे वही फलसिद्धि हो जाती है जो इन साधनोंसे होती है।

प्राणायामेषु सर्वेषु शमयन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न सम्मतम्॥
(हठयोगप्रदीपिका २। ३४)

परन्तु जहाँ इनका अति उपयोग, दुरुपयोग अथवा अनुचित महत्त्व भ्रान्तियुक्त होनेसे हानिप्रद है, ऐसे ही हठयौगिक आसन तथा षट्क्रिया आदिका नितान्त तिरस्कार भी युक्तियुक्त नहीं है। इनका उचित उपयोग किसी दक्षकी देख-रेखमें इनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभावके कारण लाभदायक ही है। हाँ! इन क्रियाओंमात्रको योग समझना भूल है। दोनों वर्गोंको मध्यमार्ग ग्रहण करके स्वयं उचित लाभ उठाना श्रेयस्कर है तथा अनुचित धारणा, अनुष्ठान तथा वचनद्वारा दूसरोंको पथ-भ्रष्ट करनेके पापका भागी नहीं बनना चाहिये।

कर्मयोग

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके भाषणसे)

समतापूर्वक कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें खास निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्कामभाव न रहनेपर कर्म केवल 'कर्म' होते हैं, वह कर्मयोग नहीं होता। शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करनेपर भी यदि निष्कामभाव नहीं है तो उन्हें कर्म ही कहा जाता है; ऐसी क्रियाओंसे मुक्ति सम्भव नहीं। क्योंकि मुक्तिमें भावकी ही प्रधानता है। निष्कामभाव सिद्ध होनेमें राग-द्वेष ही बाधक हैं—'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गीता ३। ३४); वे इसके मार्गमें लुटेरे हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। तो फिर क्या करना चाहिये?—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३। ३५)

—इस श्लोकमें बहुत विलक्षण बातें बतायी गयी हैं। इस एक श्लोकमें चार चरण हैं। भगवान्‌ने इस श्लोककी रचना कैसी सुन्दर की है! थोड़ेसे शब्दोंमें कितने गम्भीर भाव भर दिये हैं। कर्मोंके विषयमें कहा—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

यहाँ 'श्रेयान्' क्यों कहा है? इसलिये कि अर्जुनने दूसरे अध्यायमें गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख माँगनेको 'श्रेय' कहा था—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—(२। ५); किंतु 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२। ७) में अपने लिये निश्चित 'श्रेय' भी पूछा और तीसरे अध्यायमें भी पुनः निश्चित 'श्रेय' ही पूछा—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३। २)। यहाँ भी 'निश्चित्य' कहा और दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी 'निश्चितम्' कहा है। भाव यह है कि मेरे लिये कल्याणकारक अचूक रामबाण उपाय होना चाहिये। वहाँ अर्जुनने प्रश्न करते हुए कहा कि 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन' (३। १); यहाँ 'ज्यायसी' पद है। इस 'ज्यायसी' का भगवान्‌ने 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' (३। ८) में 'ज्यायः' कहकर उत्तर दिया कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान्‌ने भीख माँगनेवाली बातको काट दिया। तो फिर कर्म कौन-सा करे? इसपर बतलाया कि जो स्वधर्म है, वही कर्तव्य है, उसीका आचरण करो। अर्जुनके लिये स्वधर्म क्या है? युद्ध करना। १८ वें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें भगवान्‌ने क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बतलाये हैं, क्षत्रिय होनेके नाते अर्जुनके लिये वे ही कर्तव्य कर्म हैं। वहाँ भी भगवान्‌ने 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'—(१८। ४७) कहा है। स्वकर्मका नाम स्वधर्म है। यहाँ स्वधर्म है—युद्ध करना। 'स्वधर्मः'के साथ 'विगुणः' विशेषण क्यों दिया? अर्जुनने तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें युद्धरूपी कर्मको 'घोर कर्म' बतलाया है। इसीलिये भगवान्‌ने उसके उत्तरमें उसे 'विगुणः' बतलाकर यह व्यक्त किया कि स्वधर्म विगुण होनेपर भी कर्तव्यकर्म होनेसे श्रेष्ठ है। अतः अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है; तथा दूसरे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने

बतलाया कि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक श्रेष्ठ साधन है ही नहीं।

परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

मतलब यह है कि परधर्ममें गुणोंका बाहुल्य भी हो और उसका आचरण भी अच्छी तरहसे किया जाता हो, तथा अपने धर्ममें गुणोंकी कमी हो और उसका आचरण भी ठीक तरहसे नहीं बन पाता हो, तब भी परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म ही 'श्रेयान्'—अति श्रेष्ठ है। जैसे पतिव्रता स्त्रीके लिये अपना पति सेव्य है चाहे वह विगुण ही हो। श्रीरामचरितमानसमें कहे हुए—

'वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥'

—ये आठों अवगुण अपने पतिमें विद्यमान हों और उसकी सेवा भी साङ्गोपाङ्ग नहीं होती हो; तथा पर-पति गुणवान् भी हो और उसकी सेवा भी अच्छी तरह की जा सकती हो, तो भी पत्नीके लिये अपने पतिकी सेवा ही श्रेष्ठ है, वही सेवनीय है, पर-पति कदापि सेवनीय नहीं। उसी प्रकार स्वधर्म ही श्रेयान् (श्रेष्ठ) है, पर-धर्म कदापि नहीं।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

—इससे भगवान्‌ने यह भाव बतलाया है कि कष्टोंकी सीमा मृत्यु है, और स्वधर्म-पालनमें यदि मृत्यु भी होती हो तो वह भी परिणाममें कल्याणकारक है। तात्पर्य यह कि परधर्ममें प्रतीत होनेवाले गुण, उसके अनुष्ठानकी सुगमता और उसके सुखकी कोई कीमत नहीं है, क्योंकि वह परिणाममें महान् भयावह है। बल्कि अपने धर्ममें गुणोंकी कमी, अनुष्ठानकी दुष्करता और उसका कष्ट भी महान् मूल्यवान् है, क्योंकि वह परिणाममें कल्याणकारक है। और जिस स्वधर्ममें गुणोंकी कमी भी न हो, अनुष्ठान भी अच्छी प्रकार किया जा सकता हो तथा सुख भी होता हो वह सर्वथा श्रेष्ठ है, इसमें तो कहना ही क्या है!

ऊपर एक श्लोककी व्याख्या की गयी, मनुष्यको चाहिये कि इसके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे।

निर्लिप्तताका मनोविज्ञान

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(गीता ५। ७)

'शरीर और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त, विशुद्धान्तःकरण तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित पुरुष कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता।'

जीवनयात्राको सफल बनानेके लिये हमारे पूर्वजोंने कुशलतापूर्वक कर्म करनेका आदेश दिया है। कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। योगवासिष्ठ, भगवद्गीता और उपनिषद्‌की शिक्षा यही है। सभी प्रकारके कर्म करके भी कर्मबन्धनसे मनुष्य मुक्त हो सकता है। खाते-पीते, चलते-फिरते, देखते, सूँघते सभी कामोंको करते हुए भी इन कामोंसे निर्लिप्त रह सकता है। काम करते हुए कामोंके परिणामसे मुक्त रहना मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कैसे सम्भव है?

उपर्युक्त प्रश्नको सोऽहम् स्वामीने गीताकी समालोचना नामक पुस्तकमें रक्खा है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कोई भी कर्म बिना हेतुके होना असम्भव है। हेतु ही कर्मके रूपमें प्रकाशित होता है। योगवासिष्ठमें भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। आधुनिक कर्तव्य-शास्त्रमें भी यह माना गया है कि बिना हेतुके कोई कर्म नहीं होता। फिर क्या हेतुरहित कर्मकी कल्पनाका कोई आधार नहीं है? और यदि प्रत्येक कर्मका हेतु होता है तो मनुष्य कैसे कर्मके फलसे मुक्त रह सकता है?

कर्ममें निर्लिप्तताके सिद्धान्तके सम्बन्धमें दूसरी मनोवैज्ञानिक शङ्का यह होती है कि प्रत्येक कर्म हमारे मनपर विशेष प्रकारका संस्कार छोड़ जाता है। यह संस्कार हमारे मनमें विशेष प्रकारकी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है। मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ उसके पुराने मानसिक संस्कारोंपर निर्भर करती हैं। जो व्यक्ति जिस प्रकारके काम करता रहता है, उसकी उसी प्रकारके काम करनेमें रुचि हो जाती है। जैसी मनुष्यकी रुचि होती है, वैसे वह और भी काम करता है। इस प्रकार कार्य-कारणकी परम्पराका प्रवाह चल जाता है। हमारी आदतोंका आधार भी यही कार्य-कारणके संस्कार हैं।

ऊपर जो दो शङ्काएँ कर्म-निर्लिप्तताके सिद्धान्तके विषयमें

की गयी हैं, उनका समाधान कर्मके हेतुपर विचार करनेसे हो जाता है। बिना हेतुके कर्मका होना सम्भव नहीं। यह एक मौलिक सत्य है। हेतु ही हमारे शरीरसे होनेवाली विभिन्न क्रियाओंमें एकता लाता है। हेतु इन क्रियाओंको सार्थक बनाता है। यह हेतु स्वार्थमय अथवा परमार्थमय हो सकता है। कार्यका मूल्य हेतुसे पृथक् नहीं आँका जा सकता। जिस कार्यका जैसा हेतु है, वह कार्य उसी मूल्यका है। ऊँचा हेतु रखकर हम अपनी सामान्य क्रियाओंको आत्म-साक्षात्कारका साधन बना सकते हैं। वही क्रियाएँ हेतुकी हीनतासे हमारे आत्मविनाशका कारण हो सकती हैं। हेतुकी हीनता ही कार्यको हीन बना देती है।

मनुष्य अनेक प्रकारकी शारीरिक क्रियाएँ सदा करता रहता है। ये क्रियाएँ रोकी नहीं जा सकतीं। इन क्रियाओंका रोकना प्राकृतिक विधानका रोकना है। प्राकृतिक विधानके रोकनेसे अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। मानसिक व्याधियोंका मूल कारण प्राकृतिक विधानके प्रतिकूल आचरण ही होता है। पर काम करना भी मानसिक ग्रन्थियोंका कारण होता है। जिस कामको मनुष्य नहीं करता, उसके सम्बन्धमें उसके मनमें कोई भी संस्कार अथवा ग्रन्थियाँ नहीं रहतीं। फिर कौन-सा वह मार्ग है, जिससे न तो प्राकृतिक विधानकी अवहेलना हो और न कर्मबन्धनमें ही मनुष्य पड़े।

इसके लिये मनुष्यको अपने परम लक्ष्यपर ध्यान रखना आवश्यक है। लक्ष्यकी प्राप्तिमें जो कार्य होते हैं वे कार्य आत्मसाक्षात्कारमें सहायक होते हैं। हमारे साधारण कर्म विवेकहीन होते हैं। हम अपने कर्मोंके करते समय उचित-अनुचितका विचार नहीं करते। यदि हम अपने कामोंके विषयमें पहलेसे यह सोच लें कि वे काम भले हैं अथवा नहीं, और जिन कामोंको भला समझते हैं (अर्थात् जिनका उद्देश्य संसारका मौलिक लाभ है), उन्हींको करें तो कामका किया जाना हमें बन्धनमें नहीं डाल सकता। मनुष्यके मनपर उन्हीं बातोंका स्थायी संस्कार होता है, जिन्हें वह बार-बार सोचता है। जिस व्यक्तिका जीवन किसी मौलिक तत्त्वकी प्राप्तिमें लगा है, वह उस तत्त्वके विषयमें ही सोचता है। उसको प्राप्त करनेके लिये उसे जो उपाय काममें लाने पड़ते हैं, उनके संस्कार उसके मनपर नहीं ठहरते।

एक साधारण भोजनकी क्रियाको लीजिये। कोई व्यक्ति भोजन पानेके लिये काम करते हैं और कोई काम करनेके लिये भोजन करते हैं। जो व्यक्ति भोजन-प्राप्तिके लिये काम करते हैं उनके मनमें भोजनसम्बन्धी संस्कार उत्पन्न होते हैं और जो व्यक्ति भोजन काम करनेके लिये करते हैं उनके मनमें कामके संस्कार दृढ़ होते हैं।

एक व्यक्तिके मनमें भोजनके प्रति रुचि बढ़ती है और दूसरेके मनमें कामके प्रति रुचि बढ़ती है। भोजनभट्टको भोजन न मिलनेपर दुःख होता है और कामके प्रेमीको काम न मिलनेपर दुःख होता है। यदि कोई व्यक्ति भोजनसम्बन्धी संस्कारोंसे मुक्त रहना चाहता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह अपना मन काममें ही सदा लगाये रहे। इनका अर्थ यह नहीं कि वह भोजन न करे। यदि वह भोजन नहीं करेगा तो काम भी न कर सकेगा। उसकी जीवनयात्रा भी सफल न हो सकेगी। पर भोजन करते हुए भोजनपर विचार न करना, उसके विषयमें चिन्तित न रहना भोजन न करनेके बराबर ही है।

किसी भी कार्यके दो परिणाम होते हैं—एक बाह्य परिणाम और दूसरा आन्तरिक परिणाम। कर्मके बाह्य परिणाममें कोई अकस्मात् परिवर्तन हो सकता है, पर कर्मके आन्तरिक परिणाममें कोई भी परिवर्तन नहीं होता। कर्म करनेवाले लोग प्रायः कर्मके बाह्य परिणामको ध्यानमें रखकर कर्म करते हैं। इसके कारण वे सुख और दुःखके भागी होते हैं। उन्हें कभी सफलता होती है और कभी असफलता। यदि कर्मके आन्तरिक परिणामको ध्यानमें रखकर कर्म किया जाय तो कर्मसे आध्यात्मिक लाभ ही हो और उसके फलसे मनुष्यका मन लिप्त न हो। इस रहस्यको भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें दर्शाया है—

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
> (५। ११)

'योगी लोग शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियोंसे आत्मशुद्धिके लिये सङ्ग अर्थात् बाहरी परिणामका विचार छोड़कर कार्य करते हैं।'

प्रत्येक कार्यसे मनुष्यमें मानसिक परिवर्तन होता है। मनुष्य अपनी शक्तियोंका ज्ञान काम करके ही प्राप्त कर सकता है। काम किये बिना उसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। अपनी पाशविक प्रवृत्तियोंका शोधन शुभ कर्मोंसे होता है। कर्मके द्वारा हमारी वासनाओंमें क्रमशः परिवर्तन होता है। विलियम उंट महाशयके इस सिद्धान्तमें जो उन्होंने अपनी

इथिक्समें प्रतिपादन किया है, मौलिक सत्य है कि मनुष्यके हेतुओंमें काम करनेसे उत्तरोत्तर विकास होता है। मनुष्य एकाएक साधु अथवा परोपकारी नहीं बन जाता। वह पहले स्वार्थी ही रहता है। पर नित्य शुभ काममें लगे रहनेसे और अनुभवके परिपक्व होनेसे उसके हेतु स्वार्थमय न होकर परमार्थमय हो जाते हैं। अतएव अपने-आपमें सुधार करनेके लिये अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंके विकसित करनेके लिये जो काम किया जाता है वह हमें बन्धनमें नहीं डालता।

मनुष्य जितने काम करता है, वे दोषपूर्ण होते हैं। सर्वथा निर्दोष कामका किया जाना सम्भव नहीं। यह दोष दो प्रकारका होता है—एक हेतुका दोष और दूसरा बाहरी परिणामका दोष। मनुष्यके कार्यका ज्ञात हेतु एक हो सकता है और उसका अज्ञात हेतु दूसरा। मनुष्य अपने कार्यके सम्पूर्ण हेतुको स्वयं भी नहीं जानता। कोई भी मनुष्य अपने विषयमें बुरी धारणा नहीं रखना चाहता। यदि वह ऐसी धारणा रक्खे तो उसे आत्मग्लानि हो। अतएव जब मनुष्य कोई काम करता है, तो चाहे उसका वास्तविक प्रबल हेतु नीचा ही क्यों न हो, वह अपने हेतुको ऊँचा ही समझता है। जब काम हो जाता है तो उसके कामकी आलोचना करनेवाले लोग उसके हेतुओंकी छानबीन करते हैं। उसके विरोधी लोग नीचे हेतुको ही प्रधान बताते हैं और उसके मित्र उच्च हेतुको। वह स्वयं अपने-आपको स्वीकार नहीं करता है। जितनी उसकी कटु आलोचना होती है, वह उतना ही अधिक अपने हेतुको उच्च समझता रहता है। पर वास्तविक सत्य यह है कि न तो मनुष्य पूर्णतः परोपकारी होता है और न पूर्णतः स्वार्थी। उसके प्रत्येक कार्यमें परोपकार और स्वार्थका संमिश्रण रहता है। किस तत्त्वकी प्रधानता किस कार्यमें है, इसकी खोज करना—यह एक भारी सूक्ष्म दृष्टिका कार्य है। जो व्यक्ति आत्मस्वीकृतिके लिये सदा तैयार रहता है, वही अपने कामोंके वास्तविक हेतुओंको भली प्रकारसे समझ सकता है। साधारण लोग जिस प्रकार दूसरे लोगोंको अपने हेतुओंके विषयमें धोखा देते रहते हैं, वैसे ही अपने-आपको भी धोखा देते रहते हैं। जो व्यक्ति सजग हैं, वे काम करनेसे इसलिये मुख नहीं मोड़ते कि उनके हेतु अभी सर्वथा पवित्र नहीं हैं। कामको सदा करते ही जाना भला है। हेतुकी पवित्रता काम करते-करते आती है। अपने-आपको किसी कामके लिये कोसते रहना और फिर अपना हाथ कामसे रोक देना, मनुष्यके आध्यात्मिक विकासके लिये बाधक होता है।

जिस तरह कामका कोई भी हेतु निर्दोष नहीं होता, इसी प्रकार उसका बाहरी परिणाम भी निर्दोष नहीं होता। प्रत्येक कार्यसे किसीका लाभ होता है तो किसीकी हानि भी होती है। जब हमारे कर्मका लक्ष्य दूसरोंका लाभ न कर हानि करना हो जाता है तो वह कर्म दूषित हो जाता है। पापकर्म दूसरोंकी हानि करनेके लक्ष्यसे किया जाता है और पुण्यकर्मका लक्ष्य दूसरोंका लाभ करना होता है। पापकर्मसे मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है और पुण्य-कर्मसे मानसिक बल आता है। पाप-पुण्य लक्ष्यके ऊपर निर्भर करता है न कि बाहरी परिणामपर! पुण्यकर्मका तुरंतका फल बुरा भले ही हो, उसका अन्तिम फल भला ही होता है। जो मनुष्य अपने कामसे किसीका भी अप्रिय नहीं करना चाहता, जो सब लोगोंका प्रिय बनना चाहता है, वह संसारमें कोई भी मौलिक कार्य नहीं कर सकता। जिस व्यक्तिको सभी लोग भला कहें वह वास्तवमें भला व्यक्ति नहीं। जब मनुष्य कोई महत्त्वका कार्य करेगा तो कुछ लोगोंका भला होगा और कुछ लोगोंकी हानि होगी। जिन लोगोंका भला होगा वे उस व्यक्तिको भला कहेंगे और जिनकी हानि होगी वे उसे बुरा कहेंगे। चोरबाजारको बंद करनेवाले व्यक्तिको सामान्य जनता यदि भला कहती है तो चोर लोग उसे अवश्य बुरा कहेंगे। जिन लोगोंके स्वार्थमें किसी भले कामके करनेसे बाधा पड़ती है, वे उस व्यक्तिको बुरा अवश्य कहेंगे और उसके साथ शत्रुताका व्यवहार भी रक्खेंगे। मनके कमजोर व्यक्तिमें यह सामर्थ्य नहीं होता कि वह दूसरोंकी कटु आलोचनाको सह सके, अतएव वह किसी भी महत्त्वके कामको करनेकी हिम्मत ही नहीं करता। जो व्यक्ति किसीका नुकसान न हो, इस डरसे उचित कार्योंको नहीं करते वे वास्तवमें कायर होते हैं। इससे मनुष्यका किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ नहीं होता, अपितु मानसिक दुर्बलता ही बढ़ती है। मानसिक दृढ़ताकी वृद्धिके लिये सभी लोगोंको प्रसन्न रखनेकी भावना छोड़ देनी चाहिये। हमें सदा दूसरोंके द्वारा प्रतिकारके लिये तैयार भी रहना चाहिये। इससे डरना हमें पापसे मुक्त नहीं करता वरं पापका भागी बनाता है।

अपने लक्ष्यको निश्चित करके उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपयुक्त मार्गपर चलनेसे ही मनुष्यका कल्याण होता है। जिस कामका लक्ष्य अपना और दूसरोंका कल्याण होता है, वह ऊपरसे देखनेमें कैसा भी क्यों न हो, भला कार्य है। ऐसे कार्यके बाहरी अशुभ परिणाम व्यक्तिकी आध्यात्मिक हानि नहीं करते।

बावरी गोपी

(लेखक—प्रेमभिखारी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(१६*)

यह है प्रेम-परिणाम

प्यारे दामोदर !
मेरी इस दशाका तो तुम्हें कुछ भी पता न होगा ?
कैसी निर्दयतासे सासजीने रस्सियोंसे जकड़कर बाँधा है ।
कहती हैं—तेरा दिमाग ठिकाने नहीं है ।
इधर-उधर भागती हूँ,
बेसिर-पैरकी बात बकती हूँ,
हँसती हूँ तो हँसती ही रहती हूँ,
रोती हूँ तो बंद ही नहीं होती ।
कहती थीं, कई छोटे-छोटे सुन्दर गोपकुमारोंको इतनी जोरसे कसकर मैंने पकड़ लिया कि वे रो पड़े ।
मुझे तो कुछ भी याद नहीं आता ।
तुम्हीं बताओ मोहन !
भला मैं यह सब क्यों करने लगी ?
और भी कहती थीं कि मैं अपनी साड़ी फाड़-फाड़कर लताओंपर डालती थी,
घरका सारा दूध-दही मैंने मथुराकी ओर लुढ़का दिया ।
अन्तमें मेरे व्यवहारोंसे तंग आकर मुझे रस्सियोंसे बाँध दिया ।
अपने साथ नित्यकर्म कराकर फिर बाँध देती हैं,
यहीं भोजन दे जाती हैं,
बँधे-ही-बँधे किसी प्रकार पेट भर लेती हूँ ।
प्राणप्यारे !
तुम मेरी व्यथाको भलीभाँति समझ सकते हो !
घायलकी गति घायल जाने ।
तुम भी तो एक दिन रस्सियोंसे बँधे थे ।
किंतु आह !
कहाँ तुम्हारा बँधना, कहाँ मेरा ।
तुम्हें जसोदा मैयाने अपनी वेणीकी मुलायम रेशमी डोरीसे बाँधा था,
मेरी कठोर रस्सियोंको देखो तो कहो ।
तुम थोड़ी देरके लिये ही बँधे थे,
मुझको बँधे दो दिन हो गये ।
तुम्हारा बन्धन सुनकर सारी गोपियाँ दौड़ पड़ी थीं,
जसोदा मैयासे तुम्हें छोड़ देनेकी प्रार्थना की थी उन्होंने,
तुम्हारे प्रति सबने सहानुभूति प्रकट की थी ।
मुझे पूछनेवाला कौन है ?
कोई आता भी है तो सासजीसे कहता है कि ठीक किया ।
प्राणप्यारे !
तुम होते तो क्या मैं इस तरह बँधी रहती ?
समाचार पाते ही ग्वाल-बालोंको लिये हुए दौड़ पड़ते और मेरा बन्धन काट देते ।
पर क्या कहूँ !
तुमतक समाचार कैसे भेजूँ ?
बड़ी पीड़ा हो रही है ।
तुम्हीं बताओ कान्हा !
भला मेरा दिमाग खराब हो गया है कि इन लोगोंका ?
तुम न आ सको तो कम-से-कम एक पत्र लिखकर इनको समझा दो कि मेरा मस्तिष्क ठीक है, मुझे छोड़ दें ।
हाय ! यह तो बड़ी दुर्दशा हुई ।
स्वतन्त्र थी तब तो कुंज, यमुना-तट आदि स्थानोंमें जाकर कुछ जी बहला लेती थी,

---

* भूलसे सातवें अङ्कमें क्रम-संख्या १४-१५ की जगह १६-१७ छप गयी थी । पाठक कृपया सुधार लें ।

किंतु अब तो उससे भी गयी।
यह सब तुम्हारे ही कारण तो हो रहा है निष्ठुर !
आह, पीठमें खुजलाहट उठ रही है।
क्या करूँ मोहन !
मेरी विवशता देखो।
सासजी घरमें नहीं हैं,
पतिदेव अप्रसन्न हैं,
वे होते भी तो न खुजलाते।
हाय, कैसे करूँ ?
कौन मेरी पीड़ाको समझे ?
जानते सभी हैं कि प्रेममें सुख कहाँ,
मैं भी जानती थी कि प्रेम करना दुःखोंको बुलाना है,
किंतु प्रेम करते समय प्रेमको ऐसा माल्रम होता है कि
दुःख हुआ होगा किसीको,
हमें नहीं होगा।
मैंने तो तुमसे प्रेम किया था,
फिर दुःख मिलनेकी बात क्यों सोचती ?
वह मधुर मूर्ति,
वह मन्द मुसकान,
वह चित्ताकर्षक रूप,
वह भोलापन,
आह !
अब समझमें आया कि भोली मूर्तिमें कितनी कठोरता
छिपी रहती है।
अच्छा फल मिला मुझे।
प्रियतम !
तुम नहीं आते तो न सही,
किंतु मुझे इस योग्य तो कर दो कि स्वतन्त्रतापूर्वक
अपने क्रीड़ा-स्थलोंपर विचरण कर सकूँ,
तुम्हारी मधुर स्मृतिमें मग्न रहा करूँ।
पर तुम्हें क्या पड़ी है,
तुम क्यों सुनने लगे।
देखो कान्हा !
इन मोटी रस्सियोंका बन्धन भला मेरे इस कोमल
शरीरके योग्य था ?
जिन अङ्गोंका स्पर्श करके तुम अत्यन्त आनन्दका
अनुभव करते थे,
उनकी यह दुर्दशा ?
क्या कहा जाय !
तुमसे कुछ कहना व्यर्थ है।
यह सब मेरी ही भूल है।
इतना तड़पनेके बाद समझमें आया,
यह है प्रेम-परिणाम।

(मूर्छित होकर वहीं गिर जाती है)

(१७)

यही आशा तो बैरिन हो गयी

मेरे कान्हा !
देखो, आज मैं कितनी प्रसन्न हूँ,
सासजीने मुझे छोड़ दिया।
तीन-चार दिनतक बाँध रक्खा,
मैं सचमुच पागल थोड़े थी, जो बहुत दिनोंतक बँधे
रहना पड़ता।
आखिर सासजीने कहा कि दिमाग ठीक है, कभी-कभी
गरमी बढ़ जाती है।
यह कहकर उन्होंने बन्धन खोल दिये।
पासमें बैठकर बहुत ऊँचा-नीचा समझाया भी।
किंतु तुमने तो वह जादू कर दिया है जिसपर दूसरा
रंग चढ़ता ही नहीं।
मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा ही दिमाग ठीक
है, बाकी सब पागल हैं।
विचित्रता तो देखो नटवर !
एक बुद्धिमान् और चतुरको पागलने बाँध दिया था।
वह बात बीत गयी,
उसका स्मरण व्यर्थ है।

आज मेरी प्रसन्नतासे तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिये ।
किंतु तुम प्रसन्न क्यों होने लगे,
प्रसन्न तो तब होते जब मेरे दुःखसे दुखी होते ।
मैंने तुम्हारा बड़ा भरोसा किया था कि आकर छुड़ाओगे ।
सोचा था, न आओगे तो कम-से-कम मेरे दुःखपर सहानुभूति प्रकट करते हुए मेरे घरवालोंको मुझे बन्धनमुक्त करनेके लिये लिख दोगे ।
पर हाय, न तुम आये न तुम्हारा कुछ सन्देश आया ।
यह तो कहो भगवान्‌ने सासजीके मनमें न जाने कौन-सी प्रेरणा कर दी जो उन्होंने छोड़ दिया ।
नहीं तो, पता नहीं मैं कबतक बँधे-बँधे जीवन बिताती ।
वह कष्ट भोगनेके लिये अधिक दिन न जीती मोहन !
वहीं पत्थरपर सर पटककर प्राण दे देती ।
वह भी अच्छा होता,
इस विरह-व्यथासे छुटकारा तो मिल जाता ।
बन्धनसे मुक्त होकर ही मैं कौन पलनेमें झूल रही हूँ ।
फिर वही तुम्हारा स्मरण,
उन्हीं क्रीड़ाओंका स्मरण,
वही रात-दिनकी कसक ।
व्रजके पेड़-पत्थर पसीज गये,
किंतु तुम न पसीजे ।
तुम्हारे ही कारण मेरी वह दुर्दशा हुई थी,
तुमने कुछ भी सुधि न ली ।
फिर भी मैं तुम्हारी यादमें घुल रही हूँ,
अब भी तुम्हारे दर्शनको तड़प रही हूँ ।
अच्छा जाने दो,
तुम्हारी करनी तुम्हारे साथ,
मेरी करनी मेरे साथ ।
तुम भले ही सुधि न लो,
चाहे मिलनेपर भी ठुकरा दो,
देखकर भी दूसरी ओर मुख फेर लो,
तो इससे मेरे प्रेममें कमी थोड़े आयेगी ।
यह तो अपने-अपने हृदयकी विशेषता है ।
किसीका कठोर होता है, किसीका कोमल ।
तुम्हारा हृदय वैसा है, मेरा ऐसा ।
इसमें कुछ कहनेकी क्या बात है ?
किंतु इतना फिर भी कहूँगी,
जब तुम्हारा हृदय ऐसा था तब क्यों हम भोली-भाली व्रजाङ्गनाओंके साथ तुमने प्रेम करके हमारा चित्त चुरा लिया ?
किसी दूसरेके हृदयका भी कुछ मूल्य होता है ।
अपनी इच्छा या अपना आनन्द ही सब कुछ नहीं होता ।
सबका हृदय हृदय है,
मिट्टीका खिलौना नहीं है
कि जबतक जी चाहा खेलते रहे
और जब जी चाहा पटककर चूर-चूर कर दिया ।
प्राणेश !
तुम क्या जानो कि चूर-चूर हुआ हृदय कैसा होता है,
उसे किस प्रकार दबाये रखना पड़ता है ।
वह शरीरसे सम्बन्ध तोड़कर बाहर निकलना चाहता है,
कहता है, जहाँ मेरा दुलार न हुआ वहाँ रहनेसे क्या लाभ ?
किंतु आहोंका बाड़ा बाँधकर उसे घेरे हुए हूँ ।
उसे जाने नहीं देती ।
क्यों ?
आशा जो लगी है ।
उसे समझाती हूँ कि धीरज मत छोड़,
इतना मान भी मत कर ।
माना विरह-वेदनासे तू छलनी हो गया है,
तेरे शरीरमें घाव-ही-घाव हैं,
मनमोहनकी एक ही मधुर मुसकानसे तेरे सब घाव भर जायँगे ।

तू फिर हरा-भरा हो जायगा ।
तुझे पहलेसे भी अधिक मान मिलेगा ।
तू अपनी सारी पीड़ाओंको भूल जायगा ।
उस मधुर मूर्तिके सामने यदि तू अपनी व्यथाओंको स्मरण भी करना चाहेगा तो तुझे यादतक न आयेगी कि कभी तू तड़पा भी है
तू ही बता,
तड़प-तड़पकर अधीर होकर नष्ट हो जाना अच्छा या प्यारेके मुखारविन्दके दर्शन करके फिर आनन्दमें मग्न होना अच्छा ?
क्या पूछता है,
क्या वे फिर आवेंगे ?
आह ! यह तो बड़ा बेढब प्रश्न किया तूने,
किंतु प्रश्न ही भर बेढब है ।
उत्तर तो सहज है,
आशा बराबर लगी है कि वे आवेंगे ।
जिस दिन आशा टूट जायगी उस दिन सारे कष्टोंसे छुट्टी मिल जायगी ।
उस रूप-सुधाको फिर पान करनेकी आशामें ही तो तड़प रही हूँ ।
प्राणप्यारे !
तुम्हारे दर्शनकी आशा ही तो तमाम दुःखोंका कारण है ।
हाय, यही आशा तो बैरिन हो गयी ।
(नेत्र बंद करके मौन हो जाती है ।)

सत्य-चिन्तन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सुन्दर वस्तुकी केवल प्राप्ति ही सौभाग्य या लाभकी बात नहीं है । अपितु किसी भी अच्छी वस्तुका सदुपयोग करनेमें ही सौभाग्य या लाभकी सिद्धि होती है । अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि किसीको अच्छे कुलमें जन्म मिला, अच्छी शिक्षा मिली, अच्छी विद्याकी योग्यता हुई, अच्छा धन-वैभव सुलभ हुआ, सुन्दर सम्बन्धी मिले, अच्छे गुरु मिले, रमणीय देशमें निवास मिला । फिर भी अच्छे कुलका, अच्छी विद्याका, सुन्दर धन-वैभव, अच्छे सम्बन्धी और संग, संत-महात्मा, गुरु आदिका सदुपयोग न जाननेके कारण किसी प्रकारकी अच्छी सुन्दर वस्तुकी प्राप्तिका दुरुपयोग करते हुए अनेक कुलीन, धनवान्, विद्यावान्, गृहस्थ, साधक आदि अन्यायी और अपराधी बने, मानवरूपमें राक्षस बने, पतित हुए, पर जिन भाग्यशाली पुरुषोंको अच्छी वस्तुकी प्राप्तिके सदुपयोगका ज्ञान था वे सब अच्छी वस्तुओंका सदुपयोग करते हुए मानवरूपमें देवता हुए, धर्मात्मा, पुण्यशाली, भक्त और प्रेमी हुए । शक्तिका सेवामें सदुपयोग करते हुए वे शान्ति पा सके ।

जिस मनुष्यमें सारासार, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं है, सत्यासत्यका ज्ञान नहीं है उसके अधिकारमें किसी प्रकारकी अच्छी शक्तिका होना उन्मत्त मनुष्यके हाथमें तलवार-बंदूक होनेके बराबर है । अपने-आपको सुन्दर बनानेका साधन यह है कि तुम्हारे साथ जो कुछ भी तुच्छ, अनावश्यक, असुन्दर और अपवित्र हो उसीका त्याग करो, इसके विपरीत जो कुछ भी श्रेष्ठ, आवश्यक, सुन्दर तथा पवित्र हो उसका ग्रहणकर सदुपयोग करो । तुम्हारे पास जो कुछ भी उत्तम हो, उसीसे उनकी सहायता-सेवा करो, जो निकृष्ट वस्तुओंसे बोझल हों । तुम्हारे पास जो कुछ भी निकृष्ट हो उनका उन श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप त्याग करो, जो उत्तम वस्तुओंसे सुसज्जित हों, वे तुम्हें उत्तमतासे उसी समय भरने लगेंगे जब तुम निकृष्टताका त्याग करोगे ।

तुम श्रेष्ठ, सुन्दर और पवित्र वस्तुओंके अभावमें अपने भाग्यको न कोसते रहो । श्रेयस्कर तो यह है

कि श्रेष्ठ, सुन्दर और पवित्र पुरुषोंके समीप रहकर उत्तम वस्तुओंको, विशुद्ध भाव और यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करो; जिज्ञासुओंके लिये इनका दरवाजा कहीं भी बंद नहीं है; अवरुद्धता अहंकारी, विषयी और सुखोन्मत्त जीवोंको ही दीख पड़ती है। तुम अपने पास होनेवाली उसी वस्तुको सुन्दर और श्रेष्ठ समझो जिसके सङ्गसे तुम कहीं असुन्दर और तुच्छ न बनकर स्वयं श्रेष्ठ तथा सुन्दर होते चले जाओ।

तुम्हारे लिये वही अच्छा उत्तम सम्बन्धी है जिसके सङ्गसे तुम ज्ञानी बनो, अज्ञानी नहीं; त्यागी बनो, रागी नहीं; विरक्त बनो, आसक्त नहीं; सद्गुणसम्पन्न बनो, दोषी नहीं; परमार्थी बनो, प्रपंची नहीं। तुम्हारे लिये वही विद्या अच्छी है, सुन्दर है, जिससे तुम विनम्र बनो, अभिमानी नहीं; सत्यान्वेषक बनो, प्रमादी नहीं; यथार्थवादी बनो, बकवादी नहीं; गम्भीर बनो, अधीर नहीं; परार्थी बनो, सुखार्थी नहीं; परगुणदर्शी बनो, परदोषदर्शी नहीं; सत्यासत्यके योगी बनो, भौतिक सुखोंके भोगी नहीं; सत्स्वरूपके विज्ञानी बनो, असत्के स्वाभिमानी नहीं।

तुम्हारे लिये वही धन उत्तम है जो तुम्हें दानी बना दे, कृपण-दरिद्र नहीं; उदार बना दे, कंजूस नहीं; संतुष्ट बना दे, असंतुष्ट नहीं; सरल बना दे, कठोर नहीं; धर्मपथमें सेवा-सहायताके लिये सहायक हो, बाधक नहीं; निश्चिन्त बना दे, चिन्ताग्रस्त नहीं; धर्मशील बना दे, अधर्मी नहीं। तुम्हारे लिये उच्चपदाधिकार वही अच्छा है जिसके द्वारा तुम आश्रितोंके संरक्षक बनो, शोषक नहीं; सामान्य सेवक बनो, अभिमानी स्वामी नहीं; प्यार करो, संहार नहीं; हितैषी बनो, द्वेषी नहीं; सरल बनो, अहङ्कारी नहीं; न्यायी बनो अन्यायी नहीं। तुम्हारे पास देहबल, मनोबल, बुद्धिबल या तपोबल तभी अच्छा है, सुन्दर है जब तुम उसके द्वारा अपना और दूसरोंका हित करो, सेवामें सब कुछका सदुपयोग करो, दुरुपयोग नहीं; परमात्माके योगी बनो, सांसारिक पदार्थोंके संयोगी या वियोगी नहीं।

जो मनुष्य अविवेकी हैं, अज्ञानी हैं, वे प्रत्येक सुन्दर वस्तुका, विद्या-बुद्धि आदि शक्तिका दुरुपयोग करते हुए उसे असुन्दर और तुच्छ बनाते रहते हैं। अपने अधिकारमें मिले हुए पदार्थोंका या किसी भी प्रकारके बलका सदुपयोग या दुरुपयोग करते हुए सुन्दर या असुन्दर, श्रेष्ठ या तुच्छ, स्वर्गीय या नारकीय बनाते रहना तुम्हारी शुद्ध या अशुद्ध बुद्धिका ही कार्य है।.....तुम्हारी बुद्धि यदि शुद्ध या सात्त्विक होगी तब देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिका और इनके साथ रहनेवाली शक्तियोंसमेत जीवनका सदुपयोग करोगे, इसके विपरीत यदि तमोगुणी बुद्धि होगी तो सब कुछके समेत जीवनका दुरुपयोग करोगे। सत्त्वगुणकी प्रधानतामें शान्ति-लाभके लिये शक्तिका सदुपयोग होता है, रजोगुणकी प्रधानतामें विषय-सुख-लाभके लिये शक्तिका उपयोग होता है और तमोगुणकी प्रधानतामें समुचित लाभका ज्ञान न होनेके कारण उन्माद-प्रमादके कारण शक्तिका दुरुपयोग होता है।

किसी भी प्रकारकी वस्तुका या शक्तिका सदुपयोग करना पुण्यका पथ है और दुरुपयोग करना पापका पथ है। जो पुरुष सांसारिक भोगसुखोंसे सर्वथा विरक्त होकर आत्मशान्ति अथवा कल्याणके लिये त्यागी, ज्ञानी और प्रेमी होते हैं वे ही सात्त्विक शुद्ध बुद्धिवाले हैं। जो व्यक्ति भोगसुखोंमें आसक्त होकर रागी, अविवेकी और द्वेषी हैं वे ही तामसी अशुद्ध बुद्धिवाले हैं।

तुम बुद्धिमान् हो इसलिये सारासारका, सत्यासत्यका विचार करो, ज्ञानी पुरुषोंके समीपस्थ होकर अपने दोषोंको जानो, दुर्गतिको देखो। सद्गति, परम गति, परम शान्तिके सुपथ तथा सुसाधनका ज्ञान प्राप्त करो और उसी ज्ञानके प्रकाशमें चलकर परम लक्ष्यको प्राप्त करो।

साधन और साध्य

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
(गीता १५। ३-४)

'यहीं वह पीपल है।' महात्माने इधर-उधर देखकर अपना निश्चय दृढ़ किया। 'ठीक इसी स्थानको मैंने कल स्वप्नमें देखा है। इसीकी जड़के नीचे होना चाहिये उस श्रीविग्रहको।'

'निश्चय यहाँ कोई प्राचीन भवन रहा होगा।' साथके तरुणने देखा कि भूमि यद्यपि तृणोंसे ढक गयी है, कोई विशेष चिह्न बाहर नहीं, फिर भी वहाँ कँटीली लताएँ ही यत्र-तत्र उग और बढ़ सकी हैं। पीपलके अतिरिक्त दूसरा कोई बड़ा वृक्ष आसपास नहीं। भूमि कंकरीली है, यह तो स्पष्ट ही था। 'ये छोटे कंकड़ ईंटोंके टुकड़े हैं। मिट्टीके स्वाभाविक कंकड़ यहाँ कम दीखते हैं। खोदनेपर ईंटोंके बड़े टुकड़े निकलेंगे।'

'तुम कितनी देरमें इसे काट सकोगे ?' महात्माने अभी स्नान नहीं किया है। वे आध कोस दूर सरिता-तटपर जानेको उद्यत हुए। 'मैं चाहता हूँ कि इसकी जड़ मेरे ही सम्मुख खोदी जाय।'

'दोपहरसे पहले तो इसके गिरनेकी आशा नहीं।' तरुणने ध्यानसे पीपलके तनेकी मोटाई देखी। वह इस कामका अभ्यस्त नहीं। यदि महात्माका यह आग्रह न होता कि कोई तीसरा व्यक्ति साथ न चले तो बढ़इयोंसे यह काम करा लेना सरल होता।

'मैं शीघ्र लौटनेका प्रयत्न करूँगा।' साधु नित्य-कर्मसे निवृत्त होनेकी शीघ्रतामें थे। 'थक जानेपर विश्राम कर लेना। आते ही मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।'

'जय गणेश! जय शम्भो!' तरुणने कुदाल एक ओर रख दी और कुल्हाड़ा सम्हाला! पहला आघात करते ही वह समझ गया कि काम उतना सरल नहीं, जितना वह समझ रहा था। इस सूखे पीपलके तनेपर उसका कुल्हाड़ा उछल गया था। लकड़ीका बहुत छोटा-सा टुकड़ा पृथक् गिरा। केवल एक चिह्न भर बन सका तनेपर।

'ठक्-ठक्-ठक्' तरुण कुल्हाड़ेपर कुल्हाड़ा चलाता जा रहा था। कभी यहाँ और कभी वहाँ, इधर-उधर तनेपर चिह्न बनते जा रहे थे। नन्हें लकड़ीके टुकड़े उछलकर कभी दूर गिरते और कभी मस्तक, हाथ या और किसी अङ्गपर चोट पहुँचाते। जिसने कभी लकड़ी नहीं काटी, उसके हाथ कैसे सधे स्थानपर पड़ें। वह जितना प्रयत्न करता, कुल्हाड़ा उतनी दूर लगता। कई बार उचटे कुल्हाड़ेकी चोट उसे लगते-लगते बची।

हाथ लाल हो गये, भालसे बिन्दु टपकने लगे। बार-बार कुल्हाड़ेको वृक्षमें अटकाकर बायें हाथकी तर्जनीसे उसने मस्तकका पसीना पोंछा। अभी तो कुछ इंच ही तना कट सका है। इस गतिसे तो वह तीन दिनमें भी नहीं कटेगा। काटना उसीको है; परंतु अब कुल्हाड़ा उठानेमें भी भुजाएँ दर्द करती हैं।

'काटेगा वह—उसे ही काटना है। महात्माजीके लौटनेसे पूर्व कम-से-कम चारों ओरकी छालकी मोटाई तो काट ही देनी है।' वेग घटता जा रहा था। उसने शरीरके साथ बलप्रयोग प्रारम्भ कर दिया था। 'ठक्!' एक बार पूरे वेगसे मारनेपर आशा थी कि बड़ा-सा चप्पड़ टूटेगा। लकड़ी जहाँसे स्वतः तड़क गयी है, वहाँसे अधिक कटे और बड़ा टुकड़ा गिरे; परंतु उस फटी सन्धिमें तो कुल्हाड़ा ही अटक गया।

उसने हिलाया, बल लगाया और जब कुल्हाड़ेको हिला न सका तो बैठ गया। थोड़ी देर विश्राम कर लेना

ठीक है। वह बहुत थक भी गया है। हाथ लाल हो गये हैं। कदाचित् छाले पड़नेवाले हैं। महात्माजीको लौटनेमें अभी बहुत देर होगी।

'वह, कोई आ रहा है। महात्माजी-जैसे ही लगते हैं। वही हैं हाथमें वह क्या तुम्बी दीखती है।' झटसे उठ खड़ा हुआ। वह थक गया है, यह महात्माजीपर प्रकट हो, इसकी उसे तनिक भी इच्छा नहीं थी। झटपट उसने कुल्हाड़ा पकड़ा। 'ठक्-ठक्' वेगसे वह आघात कर सके तो महात्मा दूरसे उसका कार्य चलता है, यह जान सकेंगे।

कुल्हाड़ा तो लकड़ीकी दरारमें जा अटका है। वह तो हिलता ही नहीं। उसने बहुत प्रयत्न किया। पूरा बल लगाया। कोई लाभ नहीं। कुछ झुँझलाहट आयी। दोनों ओर बगलोंमें दबाने लगा उसे।

'मैं देखता हूँ, तुम रहने दो!' साधुने कमण्डलु भूमिपर रक्खा। उसने पूरे बलसे एक ओर दवाया और उठा लिया, पर—पर कुल्हाड़ेका धारवाला पतला भाग टूट गया था।

'कोई चिन्ता नहीं! तुम बढ़ईके यहाँसे खूब सुदृढ़ कुल्हाड़ा ले आओ। पीपल इस कच्चे लोहेसे कटनेसे रहा! मैं प्रतीक्षा करूँगा।' उसके पास ग्राममें जाकर दूसरा कुल्हाड़ा लानेके अतिरिक्त उपाय भी क्या था।

× × × ×

[२]

'यह जीवन-मरणका चक्र कैसे छूटे?' प्रश्न सीधा पर श्रद्धासमन्वित था। ब्राह्मणकुलमें जन्म, सम्पन्न तथा सदाचारी परिवार ये बड़े पुण्यसे प्राप्त होते हैं। उसने इसके साथ स्वयं नम्रता, और शीलका अर्जन किया था। अध्ययन यदि विशुद्ध हो तो विद्या वैराग्यका कारण बनेगी ही। उसे स्वाध्यायका व्यसन था। समीप किसी महात्माके आनेपर उनकी सेवाका प्रयत्न एवं सत्संगका लाभ छोड़ना उसके स्वभावमें नहीं था। प्रातः किसीने समाचार दिया कि गङ्गातटपर एक विरक्त संत पधारे हैं। वह उसी समय चल पड़ा था। महात्माओंके समीप कुशल-प्रश्न तो जिज्ञासा और समाधानस्वरूप ही ठीक है।

'बिना श्रीहरिका सान्निध्य पाये जीवका जन्म-मरण कैसे छूट सकता है।' महात्मा तनिक सीधे बैठ गये। उस समय वहाँ दूसरा कोई न था। पलाशके पत्तोंमें छनकर आती किरणें उनके मुखको दीप्तिमय बना रही थीं। 'जीव जबतक मायाकी परिधिमें है, उसे आवागमनसे मुक्ति कहाँ। उसकी मुक्ति तो इस मायिक जगत्से पार पहुँचकर होती है। प्रभुके परधामको प्राप्त करके ही वह पुनः यहाँ नहीं लौटता।'

'श्रीहरिका वह सान्निध्य कैसे प्राप्त हो?' तरुणने चरण पकड़े।

'उपासना और प्रेमके द्वारा वह प्राप्त होता है?'

'उपासना?' तरुणका सन्तोष सूत्रोंसे कैसे हो जाय।

'अधिकारके अनुरूप आराध्य-विग्रहकी अर्चा और उसीका ध्यान, चिन्तन, गुणगान, मन्त्र एवं नाम-जप।'

'मैं अपने अधिकारको समझ सकूँ, इतनी शक्ति नहीं है!' तरुणने भावक्षुब्ध प्रार्थना की।

'तब कल आओ!' पता नहीं क्यों महात्माने उसे उस समय विदा करना चाहा। अधिकारकी परीक्षा जिज्ञासाकी तीव्रतासे होती है। जिज्ञासाकी तीव्रताका परीक्षण या स्वयंकी कोई आवश्यकता होगी।

जिसमें सचमुच जिज्ञासा है, वह 'कल' तो क्या 'एक वर्ष या एक युग'की भी प्रतीक्षा कर लेगा। विश्वास भर होना चाहिये। दूसरे दिन तरुण ठीक उसी समय उपस्थित हो गया।

'कहींसे एक अच्छा कुल्हाड़ा ले आओ!' महात्माने आदेश दिया 'खूब मोटा-सा एक पीपल काटना है। हम दोनोंके अतिरिक्त तीसरा साथ नहीं चलेगा।'

'पीपल काटना है!' तरुणके स्वरमें आश्चर्य था। पीपल काटना तो शास्त्रनिषिद्ध है।

'चौंको मत ! उसकी कोई प्रतिष्ठा अब नहीं। सूखकर ठूँठ हो गया है।' साधुने तरुणका असमंजस लक्षित कर लिया। 'उसका न तो वह स्वरूप है, जैसा तुम समझते हो और न उसमें जीवन ही है, पर है बड़ा सुदृढ़ मूल।'

'मैंने कल स्वप्नमें वह स्थान देखा है। यहाँसे समीप ही होना चाहिये।' तरुण कुल्हाड़ेके साथ कुदाल भी साथ लाया था। वृक्षकी जड़ खोदकर कहीं काटनेकी आवश्यकता हुई तो वह काम आवेगी। महात्मा बता रहे थे 'पता नहीं कबका वह पीपल है। कोई उसका आदि नहीं जानता। हमलोग न काटें तो पता नहीं कबतक रहेगा। कोई नहीं बता सकता उसका अन्त। उसके मूलके नीचे श्रीहरिका सुन्दर श्रीविग्रह है।'

'श्रीविग्रह अश्वत्थके नीचे।' तरुणने स्वाभाविक कुतूहलसे पूछा। 'हाँ, भाई! श्यामसुन्दर अश्वत्थ-मूलके नीचे छिपे हैं। अश्वत्थको काटकर, फिर उन्हें ढूँढ़ना है।' महात्माका स्वर विचित्र गम्भीर हो गया था।

'प्रभु आज मेरे यहाँ भिक्षा स्वीकार करेंगे।' तरुणने मार्गमें चलते-चलते अनुरोध किया।

'अभी तो तुम अश्वत्थको काटने चल रहे हो!' महात्मा खिलखिलाकर हँस पड़े। 'वहाँ सफल होनेपर क्या लौटना हो सकता है।'

'बहुत बड़ा पीपल होगा। उसे काटते-काटते ही सायंकाल हो जाय तो आश्चर्य नहीं। उसकी जड़ भी खोदनी है, पता नहीं कितने नीचेतक। ऐसी दशामें वहाँसे लौटना कैसे सम्भव है।' तरुणने संतके शब्दोंका अर्थ अपने भावके अनुसार लगा लिया। सायंकालतक कार्य करना है। कदाचित् रात्रिको भी जुटे रहना पड़े। क्या भोजन मिलेगा, कैसे रात्रि व्यतीत होगी, यह सब प्रश्न मनमें ही नहीं आये। पीपलके नीचेसे श्रीहरिका कोई प्राचीन विग्रह मिलेगा, यह क्या कम उत्साहप्रद आशा है। उत्साह प्रबल हो तो क्षुधा-पिपासा कैसी।

'तुम अकेले पीपल काट सको, ऐसा धैर्य तो है?' साधुने पता नहीं क्यों परीक्षा लेना आवश्यक मानकर पूछा। 'मैं तुम्हारी बहुत थोड़ी सहायता कर सकता हूँ; केवल बतलाने और समझाने भर।'

'मैं उसे काट लूँगा।' तरुणको कोई सन्देह नहीं था। पीपल चाहे जितना मोटा हो, देर ही तो लगेगी। शामतक उसे गिराया नहीं जा सकेगा, ऐसी क्या बात है। उसने कभी लकड़ी नहीं काटी है तो क्या हुआ; यह भी क्या कोई कला है। कुल्हाड़ा कुछ भारी अवश्य है; पर यह और सुविधाकी बात है। 'आप वृक्ष दिखला भर दें।'

'संकेत ही सम्भव है। हम समीप आ गये हैं!' साधु चले जा रहे थे।

× × × ×

[३]

'अरर् धाँ!' सन्ध्याकी अरुणिमामें पीपल नीड़ोंको लौटते पक्षियोंको चौंकाता गिर पड़ा।

'आज चाँदनी रात्रि है। पूर्णिमाके प्रकाशमें इसकी जड़का अन्वेषण कठिन नहीं होगा!' महात्माने देखा नहीं कि तरुण कुल्हाड़ा एक ओर फेंककर भूमिपर बैठ गया है और उसने पैर फैला दिये हैं। वह कदाचित् लेट जाना चाहता है। 'सायंकृत्य समाप्त करके फिर कार्यमें लगना चाहिये।' वे दो मील दूर नदीकी ओर मुड़ पड़े।

हाथोंमें छाले पड़े और फूट गये। शरीर जैसे गाँठ-गाँठसे व्रण हो गया हो। स्वेदकी धारा चल रही थी। साधुके कमण्डलुके जलके अतिरिक्त कण्ठमें कोई दाना दिनभरसे गया नहीं। परिश्रम—अनवरत परिश्रम। यदि महात्मा बराबर प्रोत्साहित न करते, उनकी झिड़कीका भय न होता तो वह कबका चला गया होता। यह भी ठीक है कि महात्माने यदि उसे बराबर वृक्ष काटनेकी कलाके सम्बन्धमें निर्देश न दिये होते तो वह सफल न होता। उन्होंने ही उसे

लक्ष्यपर आघात करना, सूखी लकड़ीकी दरारोंसे लाभ उठाना, बड़े चप्पड़ निकालना सिखाया। इतनी सरलतासे वृक्ष कटा उन्हींकी कृपासे; किंतु अब वह इतना श्रान्त हो गया है कि उठनेकी इच्छा ही नहीं होती। चेष्टा करके भी उठ सकेगा, इसमें सन्देह है।

सन्ध्या करनेकी इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी महात्माकी भीति। किसी प्रकार वह उठा। वह दो मील उसे दो दिनका मार्ग प्रतीत हुआ, परंतु वायुने स्वेद सुखा दिया। स्नानसे श्रम दूर हुआ। सन्ध्या करनेकी स्थितिमें शरीर आया।

'बड़े तीक्ष्ण शस्त्रसे जो पर्याप्त सुदृढ़ हो, पीपल काटना है। पूरी दृढ़ता, धैर्य तथा श्रमसे ही वह कटेगा। पीपलकी जड़में ही वह श्रीधाम है, जिसे पाकर आवागमनसे परित्राण मिल जाता है।' महात्माने सन्ध्याके आसनपर बैठते-बैठते उसकी ओर गम्भीर दृष्टिसे देखकर कहा।

'पीपल तो कट गया!' उसने सोचा, कदाचित् महात्माजी ध्यानकी स्थितिके कारण आजके इस श्रमको भूल गये हैं। कहीं कोई और पीपल तो नहीं काटना है; उसे यह भी सन्देह हुआ। वह तो इस आशङ्कासे ही निराश हो गया। दिनभर उसे जो श्रम करना पड़ा है, वही अकल्पित है। उसकी पुनरावृत्ति करनी हो तो? उसकी शक्तिके बाहरकी बात है यह।

'पीपल कटता कहाँ है। वह तो अनादि है। अनन्त है। उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप या स्थिति हो तो वह कटे भी।' महात्मा पता नहीं क्या कह रहे थे। 'पीपलका वास्तविक मूल तो ऊपर है। उसकी नीचे चारों ओर फैली जड़ें ही काट दी जायँ तो बहुत। इन जड़ोंको काटकर उसके मूलका अन्वेषण करना है।'

'अभी लौटकर मैं मूलको खोदूँगा, परंतु पीपलकी ऊपरकी जड़ें क्या? हमने जिस पीपलको काटा है, उसकी कोई जड़ मिट्टीसे ऊपर नहीं।' तरुणकी समझमें बात आयी नहीं। उसने देखा कि यदि नीचेकी मूसला जड़को छोड़कर ऊपर गयी कोई जड़ खोदनी है तो वह चाहे जितनी दूर गयी हो, सीधे नीचे खोदनेकी अपेक्षा श्रम कम ही पड़ेगा।

'तुम सन्ध्या कर लो!' महात्माने देखा कि तरुण इस प्रकार कुछ समझ सके, ऐसी मानसिक स्थितिमें नहीं है।

पीपलकी जड़ खोदी गयी। इधर-उधर फैली जड़ें काट दी गयीं। नीचेकी जड़ पता नहीं कितनी गहरी गयी है। तरुणके हाथोंके छाले पहलेसे घाव बन गये हैं। शरीर अपने वशमें नहीं है। उसे लगता है, यह जड़ पातालतक तो नहीं गयी है। थोड़ी-सी मिट्टी खोदकर वह उसे बाहर फेंकनेके लिये बैठ जाता है। प्रत्येक बार उठना उसके लिये भारी होता है।

मूल खोदना है—खोदना ही है। वहाँ मूलमें कहीं श्रीहरिका मङ्गल-विग्रह है। उसे पाते ही वह मुक्त हो जायगा। महात्माका प्रोत्साहन है। वह जुटा है—जुटा है। शरीरकी शक्ति अन्ततः सीमा रखती है। सिरमें चक्कर आने लगे हैं। कुदाली उठाकर चलाते समय अँधेरा हो जाता है। पता नहीं लगता कि कहाँ कुदाल गिर रही है।

वह गिरेगा—अब गिरेगा! बहुत सम्हालने, चेष्टा करनेपर भी वह एक बार कुदालीके साथ गिरा ही। 'ठक्!' जैसे किसी पत्थरपर कुदाल टकरायी हो। महात्माजीने लपककर हाथोंसे मिट्टी हटाकर कुछ उठा लिया। उसे कुछ पता नहीं—जैसे पृथ्वी घूम रही है।

'कितना मनोहारी विग्रह है!' कमण्डलुके जलसे विग्रहको प्रक्षालित किया महात्माजीने।

'ओह, मेरे प्रभु!' जैसे उसमें नवीन प्राण आ गये हों! उसने दोनों हाथ उठाकर बैठे-बैठे ही मूर्ति ले ली। मस्तकसे श्रीविग्रहके चरण लगाते ही नेत्रोंसे धाराएँ फूट निकलीं!

'यही बतलावेंगे कि वह अश्वत्थ कहाँ है, कैसा है ! इन्हींकी कृपासे उसकी सुदृढ़ जड़ोंको काटने योग्य कुल्हाड़ा मिलता है । जड़ें काटकर इन्हींके उस पदका अन्वेषण होता है, जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं ! तुम उसी अश्वत्थको काटो !' महात्माकी वाणी उसने सुन ली; किंतु जब भावावेशसे सावधान होकर उसने गड्ढेसे ऊपर देखा, महात्मा जा चुके थे । एक ओर कुदाली पड़ी थी पासमें और ऊपर था कुल्हाड़ा । थोड़ी-सी भूमि जलसे गीली दीखती थी ।

[४]

'बन्धन क्या है ? लोकमें व्याप्त मनुष्यकी आसक्ति—सङ्ग !' वह मूर्ति अपनी गम्भीर दृष्टिमें पता नहीं क्या भाव लिये है । काले पत्थरकी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी एक छोटी-सी कलापूर्ण मूर्ति । घर लाकर जब उसने भली प्रकार उसे स्वच्छ किया तो उसे लगा, श्रीविग्रह-रूप नारायण उसीकी ओर बड़े ध्यानसे देख रहे हैं और उनके अधर-सम्पुट कुछ कहना ही चाहते हैं । छोटी-सी चौकी उनका सिंहासन बनी और वह पुजारी बन गया । नित्य पूजाके पश्चात् नीराजन करके जब वह आसनपर प्रार्थनाके अनन्तर बैठता है, उसकी दृष्टि श्रीविग्रहपर स्थिर हो जाती है । वह उस आराध्य-की दृष्टिको समझना चाहता है । आप चाहें तो इसे ध्यान कह लें ।

श्रीविग्रह कैसे उसके यहाँ पधारे ? क्या उद्देश्य था उसका इस मूर्तिको लानेमें ? सब कुछ स्मरण होकर भी जैसे विस्मृत हो गया है । प्रभु उसपर कृपा करके पधारे हैं । उसका सौभाग्य है कि वह सेवा कर पाता है थोड़ी-सी । दूसरी सब बातें जैसे अनावश्यक हो गयीं । उसके भगवान् सुन्दर, माधुर्यकी मूर्ति प्रभु । उनकी पूजाका आनन्द क्या कम है जो मनुष्य कुछ और चाहे ? इस पूजाके सुखसे बड़े किसी सुखकी कल्पना हो, तो उसकी इच्छा भी शक्य है; पर यह अपार आनन्द !

इतनेपर भी पूजाके अनन्तर वह प्रभुके नेत्रोंकी ओर एकटक देखता है कुछ देर । यह स्वभाव हो गया है । लगता है, प्रभु कुछ कहनेहीवाले हैं । सचमुच आज तो वह बोल ही पड़े हैं । हृदयके अन्तरतम प्रदेशसे यह और किसकी वाणी गूँजने लगी है । वह शान्त बैठा रहा ।

'सङ्ग ही कर्मोंमें बन्धन उत्पन्न करता है । जीवने अपनी आसक्तिके सूत्र लोकमें फैला दिये हैं । बड़े सुदृढ़ बद्धमूल हो गये हैं ये कर्मबन्धन ! प्रगाढ़ अनासक्ति—दृढ़ असङ्ग ही इनको काट सकता है ! मुझमें जिसके मनका सङ्ग हो गया, लोकसङ्ग उसका स्वतः ही उच्छिन्न हो जायगा !' वह सुनता रहा उस सुधास्यन्दिनी दिव्य वाणीको ।

'वत्स ! तुमने अश्वत्थ काट लिया !' सहसा उसने पीछे देखा । पता नहीं कबसे उसके पीछे वे महात्मा आकर खड़े थे, जिनके अनुग्रहसे वह प्रभुका श्रीविग्रह पा सका था ।

'प्रभु !' वैसे ही उसने चरणोंपर मस्तक रख दिया ।

'वह पद जहाँ जाकर कोई फिर लौटता नहीं; वह नित्य अन्वेषणीय है !' महात्माकी दृष्टि श्रीविग्रह-पर थी और वे धीरे-धीरे हँस रहे थे ।

'अश्वत्थ तो कटता ही नहीं !' उसने भी उठकर हँसते हुए ही कहा । 'यह अनादि, अनन्त विश्व जिसकी भली प्रकार कोई स्पष्ट तत्त्वतः स्थिति नहीं, इस अव्ययको काटा कैसे जा सकता है ।' वाणीमें प्रश्न नहीं, कौतुक ही था ।

'विश्व किसीका बिगाड़ता भी क्या है ।' महात्मा प्रसन्न थे । 'इसकी नीचे फैली जड़ें—आसक्तिके बन्धनमय कर्मसूत्र तो तुमने नष्ट कर ही दिये ।'

'श्रीचरणोंका अनुग्रह !' कृतज्ञतासे उसने मस्तक झुकाया !

'असङ्ग—अनासक्तिका दृढ़ शस्त्र केवल इस कर्मासक्तिका नाश करता है। यहीं बस नहीं है। अश्वत्थ-मूलका इसके पश्चात् अन्वेषण करना चाहिये, सतत अन्वेषण! प्रभुने कृपा करके तुम्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है।' गुरुने शिष्यको प्रोत्साहन दिया।

'अन्वेषण ही या············।'

'तुमने अश्वत्थ-मूल खोदा ही था न! जब तुम श्रान्त होकर असमर्थ हो गये थे।' महात्माने संकेतसे ही समझा दिया कि वह साधन साध्य नहीं। अन्वेषण तो अपनी शक्तिकी सीमाको श्रान्त कर देनेके लिये है। वह तो उस श्रान्तिकी सीमापर अपनी कृपासे स्वयं उपलब्ध होता है।

'उस दिन यदि मैं उतना न खोद सका होता!' अब भी उसे सन्देह था कि साधनको एक निश्चित सीमातक पहुँचाना ही है।

'तुमसे बलवान् अधिक खोद सकता था और निर्बल कम!' महात्मा गम्भीर हो गये 'तुम भूलते हो जब सोचते हो कि तुम एक जड मूर्तिका अन्वेषण कर रहे थे। थकनेकी सीमापर दोनोंको पहुँचना पड़ता और जो जहाँ थक जाता, श्रीविग्रह उसे वहीं मिलता। जिसकी दृष्टिकी सीमा जहाँ है, वहीं उसके लिये क्षितिजकी नीलिमा है।'

'मैं अब और किसका अन्वेषण करूँ?' उसने श्रीविग्रहके सम्मुख मस्तक झुकाया और बैठ गया। 'इससे अधिक तो उसकी शक्ति नहीं।'

'वह अन्वेषणीय पद इन भूमासे भिन्न कहाँ है!' संतकी वाणीने उसे दृष्टि उठानेको प्रेरित किया। उसे लगा उसकी आराध्य मूर्ति सहस्र-सहस्र सूर्यकी प्रभासे मण्डित हो गयी है और दिशाएँ दिव्य गन्धसे झूम उठी हैं।

बड़ी गोद किसकी ?

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

समस्त श्रान्त जीव जिसकी गोदमें विश्राम पाते हैं, अधम-से-अधमको भी जिसकी गोदमें सदा समान जगह है। भक्त प्रह्लाद आगमें तपे सुवर्णकी भाँति निर्मल, देदीप्यमान कीर्तियुक्तको जिस गोदने ललककर लिया था, उसीने अधमाधम दुष्ट हिरण्यकशिपुको भी उसी गोदमें सुलाया। जिसे कहीं भी स्थान नहीं मिलता, उसके लिये वह शीतल त्रयतापहारी गोद सदा उन्मुक्त रहती है। रावण, जिसने चराचरको व्यथित कर रक्खा था, जो सबके जीवनावलम्ब हैं, उनसे द्वेष किया था; परंतु उसके लिये भी उस महान् गोदमें किञ्चिन्मात्र भी संकीर्णता न आयी। कंस, पूतना, बकासुर इत्यादिने इतनी दुष्टता की, भ्रममें पड़कर; सारा विश्व उनसे व्यथित था, नरक भी डरता था उन्हें अपनेमें स्थान देनेको और मृत्यु भी उनके स्पर्शके भयसे भागती थी; किंतु उस महान् गोदने उन्हें बिना किसी हिचकके अपनेमें ले लिया। जब अखिल विश्व उसका है, तब वह किससे घृणा करे। माता अपने दुष्टसे भी दुष्ट बालकको क्या त्याग सकती है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि उसे सन्मार्गपर लाये और ऐसा ही उसका प्रयत्न भी होता है। वह दण्ड देती है, इसीलिये कि जिससे वह दुष्टता छोड़ दे और उसके दूसरे भोले बालक, जो कुमार्गमें पड़े हों, सँभल जायँ। यह देखकर समझ लें कि मा हमसे भी इसी तरह पेश आयेगी, परंतु वह क्या उन्हें कभी अपनी गोदसे दूर करेगी? नहीं। वह उन्हें समझा-बुझाकर ठोंक-पीटकर भी रक्खेगी अपनी ममत्वभरी गोदमें ही।

ऐसी उस विस्तृत महान् ममतामयी गोदवालेको भी मैं जब देखती हूँ किसी रानी या अहीरनीकी गोदके लिये मचलते, रोते, ठुनकते और मिन्नतें करते, तब मैं समझ नहीं पाती कि बड़ी गोद किसकी है?

वाल्मीकि रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है ?

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

अंग्रेजी दृष्टिकोणवाले वर्तमान ऐतिहासिकोंका यह विचार है कि 'वैदिककालमें 'नारायण' संज्ञक ईश्वरकी प्रसिद्धि नहीं थी; इसी कारण महाभारतमें बड़े प्रयत्नसे नारायणीय उपाख्यानद्वारा नारायणका गुणगान किया गया है। महाभारतकालके बाद ही जगत्में 'नारायण' यह संज्ञा परमात्माकी हुई। वाल्मीकि रामायणमें भी कविने रामको बहुत स्थलोंपर 'नारायण' संज्ञासे सङ्केत किया है—जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वाल्मीकि रामायणकी रचना महाभारतके निर्माणके बाद हुई।'

यहाँपर विचारणीय यह है कि 'महाभारत' कब बना ? सत्ययुगमें अथवा त्रेतायुगमें वा द्वापरके अन्तमें ? यदि द्वापरके अन्त वा कलियुगके आदिमें महाभारत बना तो द्वापर-त्रेतासे पूर्वकालीन पुस्तकोंमें यदि ईश्वरका 'नारायण' यह नाम मिल जाय; तो मानना पड़ेगा कि ऊपरका आरोप भ्रममूलक है। अब इसपर देखना चाहिये।

श्रीमनुजी सृष्टिके आदिकालमें माने जाते हैं, जैसे कि—श्रीयास्काचार्यने निरुक्तमें लिखा है—

मिथुनानां विसर्गादौ (सृष्टयादौ) मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्। (३।४।२)

उसी सृष्ट्यादिजात मनुकी स्मृतिमें ईश्वरका नाम 'नारायण' आया है। जैसे कि—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥ (१।१०)

इस पद्यके वक्ता भी स्वयं मनु हैं। श्रीमनुको कोई भी आजका भी ऐतिहासिक महाभारतसे अर्वाचीन नहीं मानता; प्रत्युत उससे प्राचीन मानता है। तभी 'मनुस्मृति' के पद्य वा मनुका नाम महाभारतमें यत्र-तत्र सुलभ हैं; जैसे कि—'मनुरेवं प्रशंसति' (महा० अनुशासन० ४४। २३) 'मनुनाभिहितं शास्त्रम्' (महा० अनुशासन० ४७। ३५) इत्यादिमें मनुका नाम स्पष्ट है।

इधर 'मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्' (१। ५। ६) 'वाल्मीकि रामायण' के इस पद्यमें भी 'मनु' का वर्णन है। 'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ' (४। १८। ३०) यहाँपर रामायणकार 'मनुस्मृति' के दो पद्य भी स्मरण करते हैं। वर्तमान संस्कृत विद्वानोंमें अनुसन्धाननिरत श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने भी 'निरुक्तालोचन' में लिखा है—"रामायणप्रणेतुरादिकवेर्वाल्मीकाच्च प्राचीनतमः' [मनुः] इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृतिको आधारीभूत करके त्रेतामें श्रीवाल्मीकिने अपनी रामायणमें ईश्वरको 'नारायण' लिखा; और द्वापरके अन्तमें उन दोनों—'मनुस्मृति' एवं 'रामायण'को आधारीभूत करके श्रीव्यासने अपने 'महाभारत'में ईश्वरको 'नारायण' लिखा। इस प्रकार 'वाल्मीकि रामायण' 'महाभारत' से परभव सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यदि रामायणमें मनुस्मृतिका नाम भी होता, महाभारतका भी; इधर महाभारतमें रामायणका नाम सर्वथा न होता; तब तो रामायणका महाभारतसे अर्वाचीन होना न्याय्य था; परंतु महाभारतमें ही मनुस्मृति तथा रामायणका नाम है, जैसे कि—'रामायणेऽति विख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः' (वनपर्व १४७। ११) परंतु रामायणमें महाभारतका नाम नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'महाभारत' ही 'मनुस्मृति' तथा रामायणसे अर्वाचीन है। तब महाभारतमें नारायणका उल्लेख मनुस्मृति तथा रामायणको आधारीकृत करके किया गया है। तो फिर 'रामायण' महाभारतसे प्राचीन ही सिद्ध हुआ। इधर 'नारायणाथर्वशिरः उपनिषद्' तथा 'नारायणोपनिषद्' भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनको आश्रित करके रामायणमें 'नारायण' नाम तथा महाभारतमें 'नारायणोपाख्यान' प्रसिद्ध है।

पर कई ऐतिहासिकोंका विचार है कि 'यह मनुस्मृति सृष्टिसमकालीन नहीं; न इसे मनुने ही बनाया है। यह तो 'भृगुसंहिता'रूपसे प्रसिद्ध जिस किसी भृगुके द्वारा बनायी गयी है। 'नारायणाथर्वशिराः' तथा 'नारायणोपनिषद्' भी अर्वाचीन हैं।'

हम इस विचारसे भी सहमत नहीं हैं। मनुस्मृतिको केवल हम ही सृष्टिके आदिमें बना नहीं मानते; किंतु आजकलके विद्वान् भी इसमें सहमत हैं। देखिये—स्वामी श्रीदयानन्दजीने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशके ग्यारहवें समुल्लासके आरम्भमें कहा है—'यह मनुस्मृति जो सृष्टिके आदिमें हुई है, उसका प्रमाण है।' (१७२ पृष्ठ)। श्रीतुलसीरामस्वामीने भी अपने भास्करप्रकाशके चतुर्थ समुल्लास नियोगप्रकरणमें कहा है—'मनु-स्वायम्भुव सृष्टिके आरम्भमें हुए।' आर्यसमाजमें अनुसन्धाननिष्णात श्रीभगवद्दत्तजीने अपने 'वैदिकवाङ्मयका इतिहास' (प्रथम भाग) के ३८ पृष्ठमें लिखा है—'वर्तमान स्मृतियोंमें मानवधर्मशास्त्र

(मनुस्मृति) सबसे पुराना है ।' उसीके २६३ पृष्ठमें मनुने कहा है—'अतः यह [मनुस्मृति तथा नारदस्मृति] ग्रन्थ भी आर्षकालके ही हैं। इसीलिये मनुके शतशः प्रमाण महाभारत आदिमें मिलते हैं। यदि यत्न किया गया, तो मनुके इसी भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्रपर ईसासे सैकड़ों वर्ष पहलेके भाष्य मिल जायँगे ।' श्रीयास्ककी साक्षी इस विषयमें पहले दी जा चुकी है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।

(मनु० १२ । १२६)

इस श्लोकके आधारसे मनुस्मृतिका भृगुप्रणीत वा अर्वाचीन होना माननीय नहीं। उक्त पद्यमें मनुस्मृतिको भृगुसे प्रोक्त कहा है, भृगुप्रणीत नहीं कहा। इसीलिये श्रीमनुने स्वयं ही कहा है—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥

(१ । ५९)

यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया (भृगुणा) ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥

(मनु० १ । ११९)

इनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रीभृगुने यह स्मृति स्वयं नहीं बनायी; किंतु मनुसे पढ़कर उसीको कहा है । उसे भी मनुके परोक्ष अथवा बहुत समयके व्यवधानमें भृगुने नहीं कहा; किंतु उसके समान कालमें ही कहा है; क्योंकि भृगु मनुका ही पुत्र है; उसे भी श्रीमनुने सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न किया है। इसी कारण श्रीमनुने स्वयं ही कहा है—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीन् आदितो दश ॥

(१ । ३४)

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥

(१ । ३५)

यहाँपर सृष्टिके आदिमें पहले यही मरीचि आदि दस प्रजापति उत्पन्न किये गये; इन्हींमें एक भृगु भी थे ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥

(मनु० १ । ६०)

इससे स्पष्ट है कि मनुके ही कालमें मनुप्रणीत ही स्मृतिको श्रीभृगुने मनुकी उपस्थितिमें ही ऋषियोंको सुनाया । तब भृगुप्रोक्त मनुस्मृति भी मनुसमकालीन अर्थात् सृष्ट्यादिकालीन सिद्ध हुई ।

इस प्रकार जब कृतयुगमें प्रकाशित मनुप्रणीत, कृतयुगोत्पन्न भृगुसे उपदिष्ट मनुस्मृतिमें ही परमात्माका 'नारायण' यह नाम कहा गया है; तब उसका अनुसरण करके श्रीवाल्मीकिने त्रेतायुगमें अपनी रामायणमें तथा उन्हीं दोनोंको अनुसृत करके उन दोनोंको ही स्मरण कर चुके हुए महाभारतकारने द्वापरके अन्तमें अथवा कलियुगके आदिमें यही बात (नारायणोपाख्यान) कही हो,—तब उसमें कोई बाधा सिद्ध न हो सकी । उसका प्रमाण यही है श्रीवाल्मीकि अपनी रामायणमें मनुस्मृतिका स्मरण करते हैं; और श्रीव्यास अपने महाभारतमें 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'मनुस्मृति' दोनोंको याद करते हैं । जैसे कि—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥

(वाल्मीकि० ४ । १८ । ३०)

यहाँपर मनुके दो श्लोक याद किये गये हैं । उन्हें रामायणकारने इस प्रकार लिखे हैं—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥

(४ । १८ । ३१-३२)

ये दो मनुके पद्य भगवान् रामने वालीको कहे थे । ये श्लोक मनुस्मृति (८ । ३१८-३१६) में हैं । कुछ थोड़ा शब्दोंमें भेद है । स्मरणके आधारपर कहे हुए पद्योंमें कुछ थोड़ा-बहुत शब्दभेद हो जाना स्वाभाविक है ।

इस प्रकार जब त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामने इन दो मनुस्मृतिके पद्योंका स्मरण किया है; और उन्हें त्रेतायुगके अन्तमें श्रीवाल्मीकिने अपनी रामायणमें उपनिबद्ध किया; तब श्रीवाल्मीकिने परमात्माका 'नारायण' यह नाम भी सत्ययुगमें प्रणीत 'मनुस्मृति' को देखकर ही प्रयुक्त किया यह स्पष्ट ही है । महाभारतमें श्रीव्यासने—

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि ।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम ॥
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत् ॥

(द्रोणपर्व १४३ । ६७)

यह 'वाल्मीकिरामायण' (६ । ८१ । २८) का पद्य स्मृत किया है।

इधर 'महाभारत' में श्रीव्यासने 'मनुनाभिहितं शास्त्रं' (अनुशासन० ४७ । ३५) इत्यादि स्थलमें बहुत जगह मनुस्मृतिको याद किया है। प्रत्युत—

प्रजापति (मनु) मतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

(अनुशासन० २० । १४)

यहाँपर मनुस्मृतिके श्लोकको भी अनूदित किया है। वह श्लोक मनुस्मृतिके ९ । ३ स्थलमें है। इससे यदि अधिक देखनेकी इच्छा हो तो 'प्राच्य धर्मपुस्तकमाला' में प्रकाशित 'मनुस्मृति' का अंग्रेजी भाषानुवाद देखना चाहिये; जहाँपर बूलर महाशयने एक सूची जोड़ी है और वहाँ बताया है कि मनुस्मृतिके अमुकामुक पद्य महाभारतमें मिलते हैं—(एस्० बी० ई० भाग २५ पृष्ठ ५३३) । इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि महाभारतमें मनुस्मृति एवं रामायण—इन दोनोंको ही आधारीभूत करके 'नारायण' यह परमात्माका नाम वर्णित किया है।

यदि मनुस्मृतिके पद्य भृगुप्रणीत होते तो 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'महाभारत' में उद्धृत 'मनुस्मृति' के पद्योंमें मनुका नाम न होकर भृगुका होता; परंतु मनुका नाम दिखायी पड़नेसे वे मनुप्रणीत ही सिद्ध हुए। भृगु तो केवल उनका उपदेष्टा वा प्रवक्ता है। प्रणेता न होनेसे ही 'रामायण-महाभारत' में उद्धृत 'मनुस्मृति' के पद्योंके लिये भृगुका नाम नहीं आया है। इस प्रकार 'महाभारत' में 'मनुस्मृति'का 'नारायण' नामका प्रतिपादक उक्त पद्य अर्थतः भी अनूदित किया गया है। जैसे कि—

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकार्यं कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत्त्वयनं सदा॥

(वनपर्व १८९ । ३)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'नारायण' यह परमात्माकी संज्ञा 'पुरा' अर्थात् सृष्टिके आदि सत्ययुगसे प्रचलित है। उसीको आश्रित करके 'नारायण' नाम प्रसिद्ध हुआ। यदि 'नारायण' नाम महाभारतसमकालीन होता तो महाभारतमें 'पुरा नारायण उक्तः' इस प्रकार न कहा जाता। वही मनुप्रोक्त 'नारायण' यह नाम त्रेतामें श्रीवाल्मीकिने, द्वापरान्तमें श्रीव्यासने अनूदित किया है। तब 'नारायण' यह नाम 'महाभारत' के बाद जारी हुआ—ऐसा विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध हुआ। इससे 'वाल्मीकि रामायण' 'महाभारत' से प्राचीन सिद्ध हो गया।

इधर 'नारायणोपनिषद्' 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१० । १) के अन्तर्गत है। आरण्यक-उपनिषद्भाग ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। 'तैत्तिरीयसंहिता' (कृष्णयजुर्वेद) मन्त्रभाग है। मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग ये दोनों ही वेद हुआ करते हैं—यह पाणिनि आदि सब प्राचीनोंका सिद्धान्त है। महाभाष्यमें यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ जो बतायी गयी हैं, उनमें शुक्ल और कृष्ण दोनोंका योग हुआ करता है। ८६ शाखाएँ कृष्णयजुर्वेदकी हैं, शेष १५ शुक्लयजुर्वेदकी। इनमें तैत्तिरीयारण्यकमें—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

(१० । १)

यहाँपर 'नारायण' शब्द स्पष्ट ही है। तब वेदकालमें भी नारायणसंज्ञक ईश्वरकी प्रसिद्धि सिद्ध हुई। तो नारायणोपाख्यानमें 'महाभारत' का नवीन यत्न नहीं हुआ। अथवा 'आरण्यककाल' से नारायणपूजा जारी हुई—यह माननेपर भी आरण्यककालके सब सूत्रोंसे प्राचीन होनेसे नारायणपूजा प्राचीन हुई। आरण्यककाल 'महाभारत' से प्राचीन है; क्योंकि महाभारतके शान्तिपर्व (३४३ । १३) तथा आदिपर्व (१ । २६५) में 'आरण्यक' को याद किया है। 'वैखानसधर्मसूत्र' (१ । ३ । ४, १ । ७ । ८) में भी नारायणका ध्यान वर्णित किया है। स्वयं महाभारत—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
....
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः॥

(शान्ति० ३३९ । १११-११२)

इस पद्यमें 'नारायणोपनिषद्' को याद किया गया है। तब 'नारायणोपनिषद्' भी प्राचीन हुई। 'अथर्वशिराः' को महाभारत शान्तिपर्व (३३८ । ३) में स्मरण किया है। इस कारण 'नारायणाथर्वशिराः' भी प्राचीन हुआ।

इधर कृष्णयजुर्वेदकी 'मैत्रायणीसंहिता' में भी नारायणका नाम आया है। जैसे कि—

तत्पुरुषाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

(२ । ९ । ८)

इस विष्णुगायत्रीमें नारायणका नाम स्पष्ट है। वेद-शाखा भी वेद हुआ करती हैं, यह किसी अन्य समयमें बताया जायगा। तब वेदकालमें ही 'नारायण' यह विष्णुकी ख्याति थी। 'लाट्यायनश्रौतसूत्र' (१० । १३ । ४) में भी 'नारायण' शब्द आया है। इस प्रकार ईश्वर रामको 'नारायण' कहती हुई 'वाल्मीकि रामायण' की रचना 'महाभारत' से पूर्व ही सिद्ध होती है।

जन अभिमान न राखहिं काऊ.

(लेखक—श्रीभावसार 'विशारद')

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भक्तशिरोमणि श्रीकाकभुशुण्डिजीने गरुड़जीको एक परम मनोहर रहस्य बतलाते हुए कहा है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ।
जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥

मानसके रचनाकार भक्ताग्रगण्य महाकवि श्रीतुलसीदासजीने उक्त संवादके अन्तर्गत अभिमान—अहंकार अथवा दर्पको संसारमें पुनर्जन्म—आवागमनका मुख्य कारण और अनेक प्रकारके दुःखोंका मूल तथा तरह-तरहके शोकको प्रदान करनेवाला (पापमूल अभिमान) माना है और लिखा है कि कृपानिधि, करुणाके सागर जन-मन-रञ्जन जब अपने सेवकको अभिमानमें मदोन्मत्त देखते हैं, तो वे उसीके—अपने दासके—लाभार्थ अभिमानरूपी वृक्षको उखाड़नेके लिये तैयार हो जाते हैं—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
(रामा० उत्तर०)

× × × ×

'माली अपनी वाटिकामें प्रतिदिन देख-भाल किया करता है और जिन-जिन झाड़ोंपर बहुत-से फूल खिले देखता है उनको तुरंत तोड़ लेता है।'

इसी भाँति ईश्वर भी सृष्टिके समस्त जीवोंकी देख-भाल करता रहता है और जो कोई अहंकारसे उन्मत्त हो जाता है, उसका नाश कर देता है।'

मालिन आती देख कर कलियाँ उठीं पुकार।
फूले फूले चुन लिये काल हमारी बार॥

× × × ×

'वस्तुतः भगवान्‌का न किसीमें द्वेष है, न राग, फिर भी वे सभीका उद्धार करना चाहते हैं। हाँ, उद्धारके साधन भिन्न-भिन्न हैं। अभिमानीका उद्धार उसे दण्ड देकर और दीन सेवकका उसे प्रेमसे गले लगाकर करते हैं, अभिमानीके प्रति भगवान् द्वेषीकी-सी लीला करते हैं और दीनके साथ प्रेमीकी-सी; इसीसे दीन-बन्धु, अशरण-शरण, अनाथ-नाथ, अकारण-करुण, करुणावरुणालय आदि उनके नाम हैं, यथार्थमें तो अभिमानीके प्रति भी भगवान्‌के हृदयमें प्रेम ही होता है, इसीलिये तो वे उसका अभिमान दूर करते हैं........ इतना होनेपर भी भगवान्‌के दण्डविधानमें लोगोंको दोष दीखता है *।'

बालिवध क्यों ?

भगवान्‌के दण्डविधानमें दोष देखनेवाले प्रायः प्रश्न किया करते हैं कि बालिका वध क्यों किया गया? मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रमें—बालिको निर्दोष बताकर—आज भी बहुतसे लोग एक धब्बा मानते हैं, इस आक्षेपके उत्तरमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने स्पष्ट लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका यह सहज स्वभाव है कि वे अपने जन (प्रेमी) के अभिमानको दूरकर उसका उद्धार कर दिया करते हैं।

देखना यह है कि क्या वास्तवमें बालि भी हरिजन था और उसमें अभिमानकी मात्रा भी थी या नहीं!

× × × ×

क्रोधमें भरकर बालि सुग्रीवसे लड़नेके लिये उद्यत हो गया है, स्त्री आकर पाँव पकड़ लेती है; किंतु बालिको अपने स्वामीकी समदर्शितापर पूरा-पूरा विश्वास है, और हाँ, यदि उसके प्यारे नाथने उसका वध कर

* पूज्य श्रीकरपात्रीजी कल्याण वर्ष २० अङ्क ५।

दिया तो क्या वह अनाथ हो जायगा ? नहीं वह तो फिर भी सनाथ ही रहेगा, यह बात भी वह जानता और मानता है—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ॥

डोरेमें जरा-सी भी तूस हो तो डोरा सूईके नाकेको पार नहीं कर सकता । इसीलिये तस्वीरका दूसरा पहलू भी अमर-ग्रन्थके रचनाकारने दिखा दिया है, वे लिखते हैं—सुग्रीवको तृणके समान जानकर अभिमानी ही नहीं, महा-अभिमानी चला (वरदान जो था दुगुने बल हो जानेका)।

अस कहि चला महा अभिमानी । तृन समान सुग्रीवहि जानी ॥

× × × ×

बालि विकल हो गया है । भूमिपर गिरा दिया है उसे रघुनाथजीके बाणने । वह उठ बैठता है और देखता है कि सामने उसके प्रभु खड़े हैं, श्याम शरीर है, सिरपर जटा शोभायमान है । नेत्र अरुण हो रहे हैं और धनुषपर बाण चढ़ा हुआ है—

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा ।
सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा ॥
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा ।
बोला चितइ राम की ओरा ॥

रेखाङ्कित शब्द बालिराजको वैसा ही जन—जाननेवाला सिद्ध करते हैं, जिनके लिये कहा गया है—

जानें बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई ।

और—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

अस्तु, अधिक क्यों भटकें । आगे चलकर जन और उसके जनार्दन ही तो सारी समस्याको सुलझा रहे हैं—

बालि—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥

श्रीराम—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करसि न काना ॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥

यद्यपि बालिका पहला अवगुन* अनुजवधूको कुदृष्टिसे विलोकना है, परंतु यहाँ जिस मुख्य दोषको दो बार कहकर विशेषता दी गयी है, वह है उसका अभिमानी होना । 'कुचाली' या 'चूक' कहकर बालिका 'कुदृष्टिरूपी अघ' सम्भव है, भगवान्‌ने वैसे ही टाल दिया हो, जिस प्रकार सुकण्ठ और विभीषणकी 'करतूति' पर करुणावरुणालय श्रीरामचन्द्रजीने स्वप्नमें भी विचार नहीं किया; क्योंकि 'किए' और 'हिए' की कोई बात सर्वान्तर्यामीसे छिपती नहीं है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की ॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥
सोइ 'करतूति' बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥

× × × ×

बालि दीन बन गया । उसने चातुरी छोड़ दी । चलती भी कब उसकी चतुराई । दीनबन्धु दीनानाथको तो दीनता ही प्रिय है न ?

काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे ।

भगवान् बालिकी इस कोमल वाणीपर—

प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥

—द्रवीभूत हो गये और उसके शरीरको अचल करने लगे; परंतु बालिने अपने उस शरीरको—जो अभिमानमें ओतप्रोत था—रखना उचित न समझा—

*जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
(भरतबचन उत्तरकाण्ड)

मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही ॥

क्योंकि अभिमानजनित देहमें प्राण रखना वैसा ही था, जैसा काँटेदार वृक्षको सींचना। इसीलिये बालिने अपने तनको त्यागनेमें रंचमात्र खेद न किया। जिस प्रकार हाथीके गलेसे पुष्पमाला सहज ही गिर पड़ती है और हाथीको यह मालूम भी नहीं होता कि कब और कहाँ माला गिरी, उसी प्रकार बालिने देह-पिंजरेसे नेह दूरकर शरीर त्याग दिया। धन्य है! रामचरणके दृढ़ अनुरागी बालिको, धन्य है!

महामुनि नारदका अभिमान

एक बार नारद मुनि हरिगुण गाते, वीणा बजाते, क्षीरसागरमें श्रीशेषशायी भगवान्‌के पास गये। भक्तोंके प्रेमी भगवान्‌ने उठकर उन्हें गले लगाया और अपने पास बिठा लिया। चराचरपतिद्वारा कुशल-क्षेम पूछनेपर नारदजीने जो—

जिता काम अहमिति मन माहीं।

—लेकर आये थे—

काम चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिवँ राखे ॥

सब कुछ अभिमानसहित वर्णन कर डाला—

नारद कहेउ सहित अभिमाना।

भक्तहितकारी भगवान्‌ने देखा कि ओहो, यहाँ तो अभिमानरूपी वृक्षकी जड़ें फैलने लगी हैं, डालियाँ और पत्ते भी निकल आये हैं—

उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी ॥

जल्दी-से-जल्दी उस पेड़को निर्मूल करनेके लिये भगवान् तैयार हो जाते हैं। हों भी क्यों नहीं? उनकी भक्तवत्सलतापर बात जो आती है। भगवान् स्वयं कहते हैं और डंकेकी चोट कहते हैं—

पन हमार सेवक हितकारी।

यहाँ भगवान्‌ने 'सेवक हितकारी'का जो प्रण ले रक्खा है, वह लें, या 'जन अभिमान न राखहिं काऊ' का उनका सहज स्वभाव लें, दोनों दशाओंमें अभिमान मिटानेके नाते उन निर्गुण निराकार भगवान्‌को उनके अनेकानेक नामोंके साथ एक नाम 'दर्पहारी' भी लेकर भक्तजन उन्हें याद किया करते हैं। विष्णुसहस्रनाममें आया है—

दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥

भगवान् क्या खाते हैं?

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है और इसके उत्तरमें बतलाया जाता है कि भगवान् 'अहंकार'का भक्षण करते हैं।

जगद्विख्यात अभिमानी

लङ्कापति रावण तो सदा ही अभिमानमें मदोन्मत्त रहता था। अभिमानने रावणका—जो महापण्डित था—ऐसा पतन किया कि मारीच, हनूमान्, मन्दोदरी, अङ्गद, कुम्भकर्ण आदिकी कोई भी सीख उसे न रुची, और जिसके लिये ग्रन्थकारको लिखना पड़ा—

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ॥
(रामा० लंका०)

श्रीरामचरितमानसमें स्थान-स्थानपर रावणके लिये लिखा गया है—

'सेन बिलोकि सहज अभिमानी।'
'बोला बिहसि महा अभिमानी।'
'बिहसा जगत बिदित अभिमानी॥'
'अस अभिमान त्रास सब भूली।'
'सुना दसानन अति अहँकारी॥'
'कथा कही सब तेहिं अभिमानी।'
'उमा रावनहि अस अभिमाना॥'
'गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी।'

श्रीरामचरितमानसमें भरे हुए अनेकों रहस्योंकी महत्ता और मनोहरताको मुझ-जैसा अज्ञानी अभिमानी क्योंकर जान सकता है, क्योंकि प्रथम तो—

आवत एहिं सर अति कठिनाई ।

और दूसरे—

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना ॥

अस्तु, मेरी इस धृष्टताको भगवान्‌के वे जन, जिनके—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे ।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥

—क्षमा करेंगे, यही प्रार्थना है ।

रामचरितमानसका अध्ययन

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव एम्० ए०)

इस बातमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी-साहित्यकी उन्नतिके साथ-साथ साहित्यालोचनके पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंसे परिचित होकर हमने अपने साहित्यका अध्ययन ऐसे नये-नये पहलुओंसे भी करना आरम्भ किया जिनपर पहले हमारी दृष्टि कभी नहीं गयी थी । हमारा ध्यान साहित्यके वैज्ञानिक अध्ययनकी ओर गया, जिसमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकी प्रधानता है । इससे हमें केवल अपने नवीन साहित्यकी श्री-वृद्धि करनेमें ही सहायता नहीं मिली, हम अपने प्राचीन रत्नोंको भी निरख-परखकर आधुनिक सभ्य जगत्‌की दृष्टिमें उनका और उनके द्वारा अपना मान ऊँचा उठा सकनेमें समर्थ हुए । परंतु जहाँ प्राचीन और नवीनके संतुलित अध्ययनद्वारा हमारी दृष्टि पूर्वापेक्षया अधिक उदार और व्यापक होनी चाहिये थी, वहाँ हमने अपनी नवीन-प्राप्त दृष्टिको ही सर्वथा निर्दोष और पूर्ण वैज्ञानिक मान लिया। फलतः पूर्वोपेक्षित इतिहास-पक्ष तथा अन्य प्रासङ्गिक विषयोंके अध्ययनकी ओर तो हमारी विशेष प्रवृत्ति हुई और स्वयं साहित्यका अध्ययन कुछ गौण-सा हो गया । यहाँतक कि साहित्यिक 'रिसर्च'में ऐतिहासिक खोजका ही कार्य प्रधान हो गया । खोजकी महत्ताके कारण, धन, यश आदिकी कामनासे कोई नया ग्रन्थ या तथ्य ढूँढ़ निकालनेकी धुनमें कभी-कभी कैसे जाल भी रचे गये, यह साहित्यके पारखियोंसे छिपा नहीं है ।

किसी साहित्यिक कृति या कवि अथवा सामान्यरूपसे साहित्यके सर्वाङ्ग और वैज्ञानिक अध्ययनके लिये बाह्य प्रासङ्गिक तथ्योंका अन्वेषण और अनुशीलन अनिवार्य है, उसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं किया जा सकता; परंतु फिर भी वह साधन ही है साहित्यको समझनेका, साध्य नहीं हो सकता । अतः साहित्यकारकी वाणीके द्वारा ही उसकी कृतिमें ही उसके अध्ययनको प्रथम स्थान देना पड़ेगा । कर्ता व्यक्त वाणीके रूपमें अपने जीवनका रस निचोड़कर रखता है । यदि हम उसीकी वाणीको गौण स्थान दे दें तो किस प्रकार हम उसके भावोंतक पहुँच सकते हैं ? मेरा विश्वास है, इस हेतु तथा बाह्य तथ्योंद्वारा मूल्याङ्कनकी अपनी आलोचनादृष्टिके कारण हम अपने अनेक कवियों, विशेषतः भक्त कवियोंके साथ, जिनमें महात्मा तुलसीदास भी हैं, पूरा-पूरा न्याय नहीं कर सके हैं।

भक्त कवि तुलसीदासजी साढ़े तीन सौ वर्षोंसे करोड़ों भारतीयोंके हृदय-हार तो बने ही हुए हैं, हम आधुनिक आलोचनादृष्टिसे भी उन्हें हिंदीका सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, यह उनकी असाधारण प्रतिभाका प्रत्यक्ष प्रमाण है । परंतु विशेषता तो यह है कि जो वस्तु तुलसीको सबसे प्यारी है, जिसमें उनके जीवनका तत्त्व है, उनको सर्वश्रेष्ठ मानकर भी उसे हम गौण ही रखते हैं । बात यह है कि काव्यालोचन-की जिस सामान्य तुलापर हम उनकी कृतियोंको, जिनमें रामचरितमानस प्रधान है, तौलते हैं वह उनके सर्वथा अनुपयुक्त है । हम भाषा और शैलीपर उनका अद्भुत अधिकार देखते हैं, मानव-हृदयके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावोंतक उनकी पहुँच पाते हैं, उनके अलङ्कारोंकी रमणीयतामें अपना मन रमाते हैं, उनके चरित्रचित्रणकी चतुरतापर चकित होते हैं, उनके प्रबन्ध-कौशलकी प्रशंसा करते हैं और उनके समाज-सुधार तथा लोकमर्यादावादपर भी मुग्ध होते हैं। यह सर्वथा उचित है, इसमें तर्ककी आवश्यकता नहीं । तुलसी महाकवि हैं, उनमें इन गुणोंका होना स्वाभाविक है । परंतु विचारणीय यह है उनकी विशेषता, या कहिये कि उनकी आत्मा, जहाँ है वहाँ प्रायः हम दृष्टि डालना नहीं चाहते । उसका हमें तबतक साक्षात्कार नहीं हो सकता जबतक हम यह न समझ लें कि तुलसी विश्वको, उसकी प्रत्येक वस्तुको—काव्यको भी—एक भक्तकी दृष्टिसे देखते हैं, और हम उनकी भक्तिको

भी अपनी काव्यालोचनकी सामान्य दृष्टिसे। वस्तुतः उनकी भक्तिको गौण करके हम उनकी काव्य-दृष्टिको भी भलीभाँति नहीं समझ सकते।

जिस प्रकार सिद्ध लेखक व्याकरणके सूत्रोंको टटोल कर अपनी भाषाके लिये मार्ग नहीं ढूँढ़ता, प्रत्युत उसकी भाषा ही व्याकरणके लिये प्रमाण बन जाती है, उसी प्रकार सिद्ध कविको भी साहित्याचार्योंके नियमोंके संकीर्ण घेरेमें घूमनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, उसका काव्य साहित्याचार्योंका 'लक्ष्य' बनता है। रामचरितमानस ऐसा ही काव्य है और उससे विदित होता है कि काव्यके सम्बन्धमें तुलसीदासजीके अपने स्वतन्त्र विचार हैं। यों मानस-की भूमिका (बालकाण्ड) में उन्होंने अनेक बार अपनेको काव्य-गुणोंसे हीन बतलाकर नम्रता प्रकट की है—

१-भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी॥
२-कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
३-कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
४-कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥
(इत्यादि)

परंतु इसका अर्थ यह तो नहीं कि वे अपने काव्यके गुणोंसे अनभिज्ञ हैं। यह एक ओर तो महाकविके अनुरूप स्वाभाविक शिष्टाचार है ही, दूसरी ओर इसमें उनका उच्च कोटिका व्यंग्यकौशल भी है जिसके द्वारा पूर्ण आत्मविश्वासके साथ वे अपने रूढिवादी या कुतर्की आलोचकोंको उत्तर देते हैं। यही नहीं, कभी-कभी वे इसी कौशलके साथ साहित्याचार्योंके मान्य सिद्धान्तोंमें भी ऐसे कवित्वपूर्ण ढंगसे इस्लाह दे जाते हैं कि उनकी विलक्षण सूझपर आश्चर्य होता है।

कहा गया था कि काव्य-पुरुषका शरीर शब्द और अर्थ हैं, रस उसका आत्मा है, गुण शौर्यादिकी भाँति, दोष काणत्वादिकी तरह और अलङ्कार कटक-कुण्डलादि आभूषणोंके सदृश हैं—

(शब्दार्थौ काव्यस्य शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव-संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्)।

शरीर, आत्मा, गुण, दोष, अलङ्कारादि सबका विधान तो हो गया, पर देखिये तो सही, ऐसे काव्य-पुरुषको बिना वस्त्रके ही सहृदय-समाजके बीच खड़ा करनेमें न जाने कौन-सी बुद्धिमानी समझी गयी! भला कोमलमति, लोकमर्यादावादी तुलसी उसका यह भद्दा उपहास कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने केवल उसे वस्त्र ही नहीं पहनाया, (काव्य-) पुरुषकी परुषता दूर कर कविता-सुन्दरीकी सुकुमारताकी ओर भी संकेत किया और इस प्रकार उसकी अलङ्कारोंकी स्वाभाविक पात्रता स्पष्ट कर दी। वे कहते हैं—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥

सब प्रकारसे सजायी-सँवारी सुन्दरीका अलङ्कारोंके बिना कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं (कविता बिना अलङ्कारकी भी हो सकती है, 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'—मम्मट), परंतु बिना वस्त्रके भला उसकी क्या शोभा होगी? तुलसीने राम-नामका वस्त्र पहनाकर मानो चीरहरणके इस अत्याचारसे कविता-सुन्दरीकी लाजकी रक्षा कर ली।

तुलसीने अपनी कविताको रामनामका वस्त्र पहनाया, उनके इस कथनका महत्त्व भलीभाँति समझे बिना हम उनकी कविताका मर्म नहीं पा सकते। वे कहते हैं कि शब्द, अर्थ, अलङ्कार, छन्द, प्रबन्ध, रस, भाव, दोष, गुण आदि काव्यके अङ्गोंमेंसे मुझे किसीका भी ज्ञान नहीं है। मेरी कविता सब गुणोंसे रहित है, उसमें केवल एक ही विश्वविदित गुण है—रामनाम।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥
भनिति मोर सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

अपने काव्यके सद्गुणोंको भलीभाँति जानते हुए भी (क्योंकि अन्यत्र 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' आदिमें वे उसका विस्तृत उल्लेख करते हैं) उसे इस प्रकार सर्वगुणहीन बतलानेमें नम्रता-प्रदर्शनके साथ-साथ एक प्रकारसे कुछ सत्योक्ति भी है। वे जानते हैं कि शास्त्राभिमानी आलोचककी दृष्टिसे उनकी भाषा शिष्टकाव्यकी रूढ़िगत भाषा न होकर 'ग्राम्य गिरा' (देशभाषा अवधी) है, छन्द भी साधारण दोहे-चौपाई आदि हैं, और रस? मानसका प्रधान रस काव्य-के शृंगारादि नव रसोंमेंसे कोई भी नहीं—'कबित रस एकउ नाहीं।' अतः वे उसे अपने ढंगसे शास्त्रकी ही यह बात भी हृदयङ्गम करा देना चाहते हैं कि शास्त्रके अनुसार सभी काव्याङ्गोंका समावेश कर देनेसे ही सत्काव्य नहीं बन जाता। कविके पास कहनेके लिये कोई उत्तम विषय, कोई उत्तम अनुभूति होनी चाहिये। उसके बिना शास्त्राभ्यासी सुकविकी

वाणी भी 'विचित्र' भले ही हो, सुन्दर नहीं बन सकती। रचनामें अन्य कोई भी गुण न हों, पर वस्तु तो उत्तम ही होनी चाहिये—'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी।' तुलसीके मानसमें यह उत्तम वस्तु 'राम-नाम' है। यही उनकी साधना है, यही उनकी अनुभूति है, और 'संदेश' ढूँढ़ना आवश्यक हो तो यही उनका संदेश है। इसीके बलपर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी कविताका आदर सब लोग करेंगे ही। वे कहते हैं—

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

और मेरी कवितामें 'जदपि कबित रस एकउ नाहीं', तथापि—

'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं';

अतः—

'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम-जस संग।'

—क्या उनका यह 'रामनाम' या 'रामयश' उनके काव्यमें गौण या उपेक्ष्य वस्तु हो सकता है?

अब उनके प्रधान विषय इस रामनामको थोड़ा और स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये। यह रामनाम या रामयश वस्तुतः किसका नाम या यश है? रामसे तात्पर्य है 'रामनामवाले ईश्वर'। मानसमें मङ्गलाचरणके ही श्लोकोंमें उन्होंने कहा है—

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

फिर ये रामनामवाले ईश्वर कौन हैं? रघुपति, रघुनाथ, अर्थात् रघुवंशी राजा रामचन्द्र—

१. स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

२. 'करन चहौं रघुपति गुन गाहा'

३. मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये

यह कैसे? रामचन्द्र तो मनुष्य थे, ईश्वर कैसे हो सकते हैं? बस, इसी सन्देहका निवारण रामचरितमानस महाकाव्यका विषय है।

श्रीरामचन्द्र सच्चिदानन्द परब्रह्मके अवतार हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥

परंतु इस विषयमें प्रायः बड़े-बड़ोंको भी शङ्का हो जाया करती है। भरद्वाजने याज्ञवल्क्यसे शङ्का की—

एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि?

याज्ञवल्क्यने कहा—

'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥'

—और उमा-शम्भु-संवाद कह सुनाया। सतीके मनमें यही शङ्का हुई जिसके फलस्वरूप बेचारीको सती होकर देह-त्यागतक करना पड़ा। जब दूसरे जन्ममें वे पार्वती हुईं तब भी कुछ संदेह शेष रह गया और उन्होंने शिवसे पूछा—'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि?' तब शिवजीने पूरी रामकथा कह सुनायी। गरुड़जीको भी यही संदेह हुआ था तो काकभुशुण्डि-जीने रामकथा कहकर उसे दूर किया था। और तो और, तुलसीदासको भी पहले शायद अच्छी तरह बात समझमें नहीं आयी थी—

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

पीछे जब उनका विश्वास दृढ़ हो गया तो उन्हें रामकी कथा प्रत्यक्ष हुई। उन्हें अत्यन्त आनन्द और हुआ और उन्होंने मानसकी रचना कर डाली—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो।.................॥

उनके 'स्वान्तःसुखाय' रचना करनेका यह भी एक रहस्य है। रामकी कथा कहकर उन्होंने अपना मन और पोढ़ा किया—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

और यदि उनके मन कहीं कुछ संदेह रहा हो तो वह भी एकदम दूर हो गया—

..............................स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

उक्त संवादोंमें एक बात यह भी विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि कोई वक्ता किसी श्रोताको तर्कद्वारा समझानेका प्रयत्न नहीं करता; क्योंकि 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।' वहाँ केवल कथा कही जाती है और उसीसे प्रत्येक श्रोताका अपूर्व समाधान होता है। इसका रहस्य है—श्रद्धा। रामचरितमानसके पाठकोंके लिये तुलसीका कहना है कि विषय-कथाके रसिकोंको तो इसमें कोई रुचि ही न होगी। और जिनके मनमें श्रद्धा नहीं, जिन्होंने सत्सङ्ग नहीं किया, जिनके हृदयमें श्रीरघुनाथजीके प्रति प्रेम नहीं है, उनके लिये मानसकी कथा अगम है—

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

अतः यदि मानसके किसी पाठककी शङ्का दूर न होती हो तो उसमें तुलसीका क्या दोष ?

अस्तु, अब यह तो स्पष्ट ही है कि तुलसी रामचरितमानसकी रचना रामको पूर्ण ब्रह्म मानकर ही करते हैं। उनके राम न प्राकृत नर हैं, न उनका रामचरितमानस नर-काव्य। जो विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय सगुण भक्ति-मार्गमें नरमें ही नारायणकी कलाका पूर्ण विकास दिखायी पड़ा है, अतः वह अधिक स्वाभाविक, हृदयके अधिक समीप तथा काव्यके उपयुक्त है, उनकी दृष्टिसे राम या कृष्ण नारायणकी कलासे युक्त नर ही हैं; परंतु रामको बड़े-से-बड़े आदर्श लोकनायकके रूपमें भी, 'नर' मानना तुलसीको कदापि इष्ट नहीं। ऐसा माननेवालोंके लिये उनके कोषमें कैसे-कैसे मधुर विशेषण हैं इसका कुछ अनुमान पार्वतीके शङ्का करनेपर शिवजीद्वारा दिये गये उत्तरसे लग सकता है (अधम, पाखण्डी, अज्ञ, अकोविद, अन्ध, अभागी, लंपट, कपटी, कुटिल, वातुल इत्यादि)। अब तुलसीके भक्ति-सिद्धान्तसे ही हमारा मेल न बैठे, यह बिल्कुल दूसरी बात है, जो सर्वथा सम्भव है। परंतु इस मौलिक दृष्टिभेदके कारण मानसको लौकिक महाकाव्योंकी श्रेणीमें रखकर उसकी आलोचना करना तुलसीकी दृष्टिके कैसे अनुकूल हो सकता है ? रामको 'नर इव चरित' करते देख जो उन्हें सचमुच 'नर' समझने लगते हैं उन्हींके मोहको दूर करना तो मानसका फल है। कथाके बीच-बीचमें भी जो वे बार-बार रामके ब्रह्म होनेका उल्लेख करते हैं उसका यही हेतु है। आलोचक जो इसे मानसमें एक बड़ा दोष समझता है वह उसे लौकिक काव्य समझनेके कारण। वस्तुतः यह भक्तिरसको पुष्ट करनेके लिये उतना ही स्वाभाविक और आवश्यक है जितना किसी शृङ्गार काव्यमें आश्रय और आलम्बनका बारंबार परस्पर प्रिय विशेषणोंद्वारा संबोधन। जो लोग इससे ऊबते हैं उन्होंने रसविशेष (भक्तिरस) को जाना ही नहीं—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

इस प्रकार यदि हम तुलसीकी उक्तियोंको उचित महत्त्व देकर रामचरितमानसका अध्ययन करें तो उनमें और उनके आधुनिक आलोचकोंमें पर्याप्त मौलिक दृष्टि-भेद दिखायी पड़ेगा। परंतु फिर भी हमने जो उनमें समाज-सुधार, मर्यादावाद, हिंदू-धर्मकी रक्षा आदि विशिष्ट गुण परख लिये हैं उनमें कमी करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उनके विषयमें हमारी दृष्टि अधिक व्यापक हो जायगी, जिससे हम उनपर आरोपित संकीर्णता आदि दोषोंपर भी फिरसे विचार कर सकेंगे। क्योंकि तुलसीकी लोक-कल्याणकी भावना, जितनी हम साधारणतः समझते हैं उससे कहीं ऊँची और व्यापक है। वे केवल हिंदू-हित या बहुजन हितके पक्षपाती नहीं, बल्कि सर्वजन क्या सर्वभूतहितको माननेवाले हैं और उसी भावनासे प्रेरित होकर काव्य-रचना भी करते हैं। वे मानते हैं कि उत्तम काव्य वही है जिससे बिना भेद-भावके सबका हित हो—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

बड़े-से-बड़े पापीका कल्याण भी उन्हें इष्ट है, क्योंकि वह भी तो इसी 'राममय विश्व'का प्राणी है।

प्रस्तुत लेखके प्रसंगमें ऐसे कई महत्त्वपूर्ण विषय सामने आते हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। जैसे रामचरितमानसमें भक्तिरस, तुलसीके दार्शनिक सिद्धान्त, निर्गुण-सगुण-विचार इत्यादि। परंतु ये स्वतन्त्र लेखके विषय हैं, अतः यहाँ इनके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसीकी विचारधाराका अध्ययन करनेके लिये हमें उस मूल ग्रन्थकी ओर भी ध्यान देना चाहिये जहाँसे उन्हें प्रेरणा मिलती है। यों कोई कहता है कि उन्होंने अनेक पुराण-वेद-शास्त्रोंसे अपनी सामग्री ली तो कोई वाल्मीकीय रामायण-को उनका मूल-ग्रन्थ समझता है; क्योंकि वे कहते हैं—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

मेरी समझमें इसका सीधा अर्थ यह है कि 'नाना पुराण-निगम-आगमसे सम्मत रामकी जो कथा रामायणमें है उसीका मैं भाषामें विस्तार करता हूँ।' परंतु प्रश्न यह है कि यह रामायण कौन-सी है ? जो इसे वाल्मीकीय या अन्य कोई रामायण मानते हैं। उनसे निवेदन है कि वे उपसंहारके इस श्लोकपर भी ध्यान दें—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

और इन चौपाइयोंपर भी—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥

यह संकेत किधर है ? किसी और लेखमें इसपर विस्तारसे विचार किया जा सकता है।

कामके पत्र

(१)

सच्चा विचारस्वातन्त्र्य

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । उत्तर देरसे जा रहा है । क्षमा करें । विचार-स्वातन्त्र्यका अर्थ मनमाना आचरण करना नहीं है । 'मेरे मनको जो अच्छा लगेगा, मेरी इन्द्रियाँ जिसमें सुख मानेंगी, मैं वही करूँगा, किसी भी नियम-संयममें, बन्धनमें नहीं रहूँगा । किसीकी हानि हो या लाभ, अपना भी नैतिक पतन हो या उत्थान । मैं इसकी परवा नहीं करूँगा । मेरी स्वतन्त्रताके आगे किसीका भी कोई मूल्य नहीं है ।' ऐसा मानना विचारस्वातन्त्र्य नहीं है । यह तो यथेच्छाचार है । और प्रत्यक्ष ही मन-इन्द्रियोंकी गुलामी है । जो मन-इन्द्रियोंका गुलाम बनकर उनकी तृप्तिके लिये विवेकशून्य यथेच्छ आचरण करता है, वह स्वतन्त्र कहाँ है, असलमें तो वही परतन्त्र है । जो शरीरसे परतन्त्र है, पर मन-इन्द्रियोंपर जिसका अधिकार है, जो उनके वशमें नहीं है, पर वे ही जिसके वशमें हैं, वही वस्तुतः स्वतन्त्र है । इस स्वतन्त्रताके लिये नियमोंकी आवश्यकता है । संयमकी आवश्यकता है एवं नित्य अंदर छिपे रहनेवाले काम-क्रोध, ईर्ष्या-असूया, राग-द्वेष, दम्भ-हिंसा आदि शत्रुओंके पूर्ण दमनकी आवश्यकता है । जो मन-इन्द्रियोंको दोषोंसे रहित और नित्य संयमके बन्धनमें रखता है, वही बन्धनसे छूटता है । यह बन्धन मुक्तिके लिये होता है और इस बन्धनसे छूटना नित्य बन्धनमें बँधना होता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है, 'समस्त पाप कामनासे होते हैं और कामना मन-इन्द्रियोंमें रहती है । आत्मा मन-इन्द्रियोंका दास नहीं, उनका स्वामी है, उनसे श्रेष्ठ है, इस प्रकार विचारकर कामरूपी शत्रुको मार डालना चाहिये ।' वस्तुतः यह सर्वथा सत्य है । आत्मामें बड़ी शक्ति है । यदि आत्माकी मूक सम्मति न हो और वह बलपूर्वक मन-इन्द्रियोंको रोके रहे तो मन-इन्द्रियोंमें शक्ति नहीं कि वे आत्माके विरुद्ध किसी भी पापमें प्रवृत्त हो सकें । पर हम जब अपनेको असमर्थ मानकर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी स्वीकार कर लेते हैं, तब इन्द्रियाँ अन्धे घोड़ोंकी भाँति मनरूपी लगामके साथ ही शरीररूपी रथको, उसमें सवार रथी (हम) को और बुद्धिरूपी सारथीको चाहे जिस गड्ढेमें ले जाकर डाल देती हैं और परिणाममें लगातार दुःखोंका भोग करना पड़ता है। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषरहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका (वैध) भोग करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है और उस प्रसन्नतासे उसके सारे दुःखोंका नाश हो जाता है एवं फिर उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।'

विषयोंका सेवन बुरा नहीं है, पर वह किया जाना चाहिये इन्द्रियोंको वशमें करके । उनके वशमें होकर नहीं । जो ऐसा पुरुष है, वही स्वतन्त्र है, और उसीके विचार भी स्वतन्त्र हैं । वह स्वयं बन्धनमुक्त होता है और दूसरोंको भी बन्धनसे मुक्त करता है । पर जो स्वयं बन्धनमें है, उसका दूसरोंको मुक्त करनेकी बात करना तो पागलपनमात्र है ।

(२)

मन-इन्द्रियोंकी सार्थकता

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । मैं क्या

लिखूँ । जीवनमें जो करना चाहिये था, जिसकी बड़ी आकाङ्क्षा थी; वह अभी नहीं कर पाया आज भी मन-इन्द्रिय संसारमें ही लगे हैं । वह धन्य और पुण्य दिवस तो आया ही नहीं, जब प्रत्येक इन्द्रिय अनवरत भगवान्की सेवामें ही लगी हो । आप जो कुछ कर रहे हैं, कीजिये । जीवनके प्रत्येक क्षणको और इन्द्रियोंकी प्रत्येक चेष्टाको प्रभुकी सेवामें लगाकर उन्हें कृतार्थ बनाइये । यही जीवनका परम और चरम फल है । मैं तो ऐसा नहीं हो सका । आप ऐसे बनिये । श्रीसूरदासजी-ने गाया है—

सोइ रसना जो हरिगुन गावै ।
नैननकी छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै ॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै ।
स्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै ॥
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं, चरननि चलि बृंदाबन जावै ।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सौं प्रीति बढ़ावै ॥

धन्य है ऐसे मन-इन्द्रियोंको और धन्य है इनके धारण करनेवाले सफलजीवन भक्तोंको !

(३)

दुखी भाइयोंके प्रति हमारा कर्तव्य

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । पंजाब और पूर्वबंगालके भाइयोंपर जो महान् विपत्ति आयी हुई है, उसके सम्बन्धमें आपके विचार पढ़े । यह सत्य है कि इस लोकमें किसी व्यक्ति या समाजपर जो कष्ट आता है, वह उसके पूर्वकृत कर्मोंका ही परिणाम है । आपने पूर्वबंगाल और पंजाबके भाइयोंमें जो दोष बतलाये हैं, संभव है न्यूनाधिक रूपमें वे उनमें हों । यह भी ठीक है कि उन लोगोंको अपने कर्मोंके फलस्वरूप ही इतने भारी दुःख सहने पड़ रहे हैं । पर यह बात उनके समझनेकी है जिस किसीपर दुःख पड़ता है, उसे चाहिये कि वह कर्मके रहस्यको समझकर सावधान हो जाय और यदि वास्तवमें उसके द्वारा अब भी निषिद्ध कर्म हो रहे हों तो उन्हें तुरंत छोड़ दे । साथ ही शास्त्रविहित सत्कर्म और श्रीभगवान्का भजन करे, जिससे भविष्यमें उसको सुखकी प्राप्ति हो; परंतु किसी दूसरेको दुःखमें देखकर हमें कभी ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'यह अपने पापोंका फल भोग रहा है, जैसा किया वैसा पाया, हम इसकी क्यों सहायता करें ।' कर्मफलका सिद्धान्त ठीक होनेपर भी हमारे लिये ऐसा व्यवहार करना बड़ा भारी पाप होता है । यह कोई नहीं जानता कि पूर्वमें किसने कैसे कर्म किये हैं और उन कर्मोंके भयानक दुष्परिणाम कब किसके सामने आ जायँगे । आज पूर्वबंगालके और पंजाबके भाई संकटमें हैं तो कल दूसरे भाई भी हो सकते हैं । हम और आप सदा सुखी ही रहेंगे ऐसा कौन कह सकता है । ऐसी अवस्थामें प्रत्येक मनुष्य-का—चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, धनी हो या गरीब—यही कर्तव्य है कि अपनी शक्तिके अनुसार संकटमें पड़े हुए भाइयोंकी सब प्रकारसे सहायता करे । कर्मफलके सिद्धान्तको मानकर स्वयं मनुष्य दुःखमें धैर्य धारण करे,—यह तो ठीक है । पर शक्ति रहते हुए भी दुखीकी सहायता करनेसे मुँह मोड़ ले, यह बड़ा पाप है । मनुष्यका यह स्वाभाविक धर्म होना चाहिये कि वह बिना किसी भेदभावके दुःखमें पड़े हुए जीवकी यथाशक्ति सहायता करे । उसे कष्टसे बचावे और सबको सुख पहुँचावे । मान लीजिये हमपर कोई घोर संकट आया हुआ हो और कोई समर्थ पुरुष हमारी सहायता न करके यह सिद्धान्त बतलाकर उपेक्षा करे कि 'तुम अपने पापका फल भोग रहे हो, हम क्यों सहायता करें ।' तो यह हमें कितना बुरा लगेगा । ऐसा ही सबके लिये समझना चाहिये । महाभारतका एक श्लोक है जिसमें धर्मका सार बतलाया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

'यह धर्मका सर्वस्व है, इसे सुनो और धारण करो ।

जो कुछ भी अपने मनसे प्रतिकूल हैं, दूसरेके प्रति उनका व्यवहार मत करो ।' इसी कसौटीपर कसकर हमें व्यवहार करना चाहिये । हमारी तो सदा यही कामना और यही प्रयत्न होना चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

आशा है, इन पंक्तियोंको पढ़कर शरणार्थी भाइयोंके प्रति आपका उपेक्षा-भाव दूर होगा और सहानुभूति बढ़ेगी । विशेष भगवत्कृपा ।

(४)

कल्प-भेदसे अवतार-भेद

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । धन्यवाद । प्रत्येक कल्पमें भगवान् श्रीरामका अवतार होता है तथा प्रति कल्पमें ही वे रावण-कुम्भकर्णादिका वध करते हैं । सृष्टिचक्र अनादि कालसे चला आ रहा है । पता नहीं, अबतक कितने कोटि कल्प बीत गये होंगे । उन अनन्तकोटि कल्पोंमें अनन्त बार भगवान्ने श्रीराघवेन्द्रके रूपमें अवतरित होकर अनन्त प्रकारकी चित्र-विचित्र लीलाएँ की हैं । इसी प्रकार रावण आदि भी अनन्त बार हुए हैं । पर यह आवश्यक नहीं कि प्रति कल्पमें वही आत्मा रावणके शरीरमें रही हो । एक शरीरमें कई आत्माओंके रहनेकी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिये । प्रत्येक कल्पमें एक ही आत्मा रावणके शरीरमें रहती है । रामचरितमानसमें श्रीगोस्वामीजीने ऐसे कई व्यक्तियोंका उल्लेख किया है जो जन्मान्तरमें रावण-कुम्भकर्ण हुए थे । जैसे जय-विजय, जालन्धर आदि, दो हरगण तथा प्रतापभानु-अरिमर्दन आदि । जिस कल्पमें जय-विजय रावण-कुम्भकर्ण हुए, उस कल्पमें वैकुण्ठविहारी अखिल जगत्के स्वामी भगवान् श्रीविष्णु श्रीरामके रूपमें अवतरित हुए थे । और कश्यप तथा अदितिने दशरथ-कौसल्याके रूपमें जन्म लिया था । यह अवतार सनकादिके दिये हुए अपने पार्षदविषयक शापका निवारण करनेके लिये हुआ था ।

जिस कल्पमें प्रतापभानु और अरिमर्दन रावण-कुम्भकर्ण हुए, उस कल्पमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपा दशरथ-कौसल्याके रूपमें आविर्भूत हुए । इनके घर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, दिव्यगुणसम्पन्न, प्राकृत-गुणरहित परमेश्वर श्रीसाकेतविहारीजी अवतीर्ण हुए थे । ऐसे ही प्रत्येक कल्पमें विभिन्न हेतुओंसे विभिन्न आत्माओंने रावण-कुम्भकर्णके रूपमें शरीर धारण किया था । और भी प्रभुके अनेक अवतार अनेकों हेतुओंसे हुए थे । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

राम जनम के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ॥
× × × ×
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नानाबिधि करहीं ॥

अतएव ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि 'एक ही रावण-कुम्भकर्ण प्रतापभानु-अरिमर्दन भी थे । जय-विजय भी थे और दोनों हरगण भी थे ।' यह सब कल्पभेदकी विभिन्न कथाएँ हैं और सभी सत्य हैं ।

(५)

कुछ प्रश्नोत्तर

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंमें बहुत-से ऐसे हैं जो निरर्थक हैं । यों व्यर्थ प्रश्न करके आपको न तो अपना समय नष्ट करना चाहिये और न दूसरोंका ही । असलमें मनुष्यका भवबन्धनसे छुटकारा तो श्रीभगवान्के भजनसे ही होता है । भजनके बिना सारी बातें व्यर्थ हैं । अस्तु, आपके प्रश्नोंमेंसे कुछके उत्तर ये हैं—

(१) श्रीराधाजीको मैं भगवान् श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्न मानता हूँ । वे भगवान्की स्वरूपभूता आनन्द-शक्ति हैं । आप अपनी श्रद्धानुसार मान सकते हैं; परंतु दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये । दोषबुद्धि करनेपर तो अकल्याण ही होगा । श्रीकृष्णके साथ उनका विवाह भी हुआ था । ब्रह्मवैवर्तपुराण इसका साक्षी है ।

(२) भगवती श्रीपार्वतीजी भगवान् शङ्करकी नित्य सहचारिणी हैं । वे पहले सतीरूपमें थीं । किसी भी रूपमें हों, वे नित्य हैं और श्रीशङ्करसे उनका अभिन्न सम्बन्ध है ।

(३) श्रीभगवतीके ५२ पीठोंका वर्णन 'कल्याण' के 'शक्ति-अङ्क' में देखिये ।

(४) गायत्रीमन्त्रका अर्थ है—'इस सबकी उत्पत्ति करनेवाले परमात्माके उस श्रेष्ठ तेजका हम चिन्तन करते हैं जो हमारी बुद्धियोंको सत्कर्मोंकी ओर प्रेरित करता है ।'

(५) भक्त कभी मूर्तिपूजन नहीं करता, वह मूर्तिके व्याजसे अपने इष्टदेव श्रीभगवान्‌का ही पूजन करता है । उसके लिये मूर्ति, मूर्ति नहीं है, साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं । यही अर्चावतार है । ऐसे भक्तके साथ मूर्तिमें अवतरित भगवान् हँसते—बोलते हैं, उसका निवेदन किया हुआ प्रसाद भोग लगाते हैं । उसको उपदेश करते हैं । मूर्तिकी तो बात ही क्या, सच्ची निष्ठा और दृढ़ विश्वासके बलपर प्रह्लादने भगवान्‌को खंभेसे प्रकट कर लिया था ।

'प्रेम बढ्यो प्रहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ्यो ।'

भक्तमालकी कथाएँ सच्ची ही हैं । आज भी विश्वासी, निष्ठावान् और प्रेमी भक्त वैसा अनुभव कर सकते हैं, करते हैं । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिये ।

(६) ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये सात्त्विक वातावरणमें रहना और इन्द्रिय-संयम रखना परम आवश्यक है । मन निरन्तर सात्त्विक कार्योंमें लगा रहेगा तो कामचिन्तन होगा ही नहीं । फिर ब्रह्मचर्यकी रक्षा अपने आप हो जायगी ।

(६)

पुराणोंकी नागजाति

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । नागजातिके सम्बन्धमें आपकी ही भाँति अन्य भी अनेकों लोग शङ्का किया करते हैं । आजका युग ही शङ्काका है । मनुष्य इतना अविश्वासी और अभिमानी हो गया है कि वह किसी भी शास्त्रकी बातपर विश्वास नहीं करना चाहता और अभिमानवश अपनी अत्यन्त सीमित बुद्धिके तराजूपर तौल-तौलकर सभीको मिथ्या सिद्ध करना चाहता है । नागोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पुराणोंमें जो वर्णन आया है, उसे ध्यानपूर्वक पढ़ लेनेके बाद शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता । महर्षि कश्यप नागोंके पिता हैं और कद्रू उनकी आदिमाता हैं । विविध प्राणियोंकी सृष्टिके लिये ही विधाताने इनको उत्पन्न किया था और इसलिये इनके मनमें भी वैसे ही संकल्प उठते थे । कद्रूने अपने स्वामीसे नागोंको ही पुत्ररूपमें प्राप्त करनेका वरदान माँगा था । उनके सङ्कल्पके अनुसार सत्यसङ्कल्प प्रजापति कश्यपजीने स्वयं भी ऐसा ही सङ्कल्प किया और उस सङ्कल्पके अनुरूप ही सन्तान उत्पन्न हुई । सर्प, पक्षी आदि जीव भी परमात्माके ही उत्पन्न किये हुए हैं परंतु परमात्मा न सर्प हैं, न पक्षी । वे सब कुछ हैं और सबसे विलक्षण हैं । परमात्माने जैसा-जैसा सङ्कल्प किया, वैसी-वैसी ही सृष्टि हुई । उन्हींकी कामनासे जगत् बना । 'सोऽकामयत' । उन्हींका संकल्प प्रजापतियोंमें प्रतिफलित हुआ । ऐसी स्थितिमें कद्रूसे नागोंका और विनतासे पक्षिराज गरुड़का उत्पन्न होना असम्भव तो है ही नहीं, आश्चर्यकी बात भी नहीं है ।

नागों और गरुड़के माता-पिता परम तपस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, सर्व-भवन-समर्थ और सत्यसङ्कल्प थे । उनमें बड़ी शक्ति थी । ये ही गुण उनकी सन्तानमें आये । वे भी अपने इच्छानुरूप शरीर धारण कर सकते थे । उनकी बड़ी शक्ति थी । देवताओंकी अवतारभूता किष्किन्धाकी वानरजातिकी भाँति नाग भी मनुष्योचित व्यवहार करते थे । नागलोकके नागोंका जो वर्णन मिलता है उससे पता लगता है कि नागलोग कुण्डल और किरीट पहनते थे, वीणा आदि वाद्य बजाते तथा मधुर गीत भी गाते थे । कम्बल एवं अश्वतर नामक नागोंको तो साक्षात् भगवती सरस्वतीने वरदान देकर संगीत-कुशल बनाया था । इन नागोंकी कन्याएँ देवाङ्गनाओंके सदृश परम सुन्दरी होती थीं । उनके शरीर दिव्यरूपसम्पन्न तथा अजर होते थे । इतनेपर नाग सर्परूपमें ही रहते थे; परंतु वह सर्पकी खाल वस्तुतः

उनके लिये कवचका काम देती थी। वे जब मन करते, तभी उसे समेटकर देवता और मनुष्यके रूपमें बदल जाते थे। जल, स्थल, वायु और आकाशमें सर्वत्र उनकी अबाध गति थी। अर्जुनका ऐसी ही नागजातिकी कन्या उलूपीके साथ विवाह हुआ था। महर्षि जरत्कारुकी पत्नी जरत्कारु और राजा पुरुकुत्सकी पत्नी नर्मदा भी ऐसी नागकन्याएँ ही थीं। भगवान् श्रीकृष्णके कालिय-दमनके समय कालियकी पत्नियोंने मनुष्यरूपमें भगवान्‌की स्तुति की थी। यह श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध है। यह नाग-जाति दिव्य शक्तिसम्पन्न थी। इन नागोंमें और देवताओंमें शक्तिकी दृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल योनिका भेद है। दोनोंके पिता एक ही हैं। जो इस रहस्यको जानते हैं, वे कभी इसे न तो अप्राकृत मानते हैं और न असम्भव ही। जिन परमात्माके सङ्कल्पसे प्रकृति निरन्तर आश्चर्यमयी लीला करती रहती है, उनकी इच्छासे क्या नहीं हो सकता।

(७)

कष्टसे छूटनेका अमोघ उपाय

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके कष्टोंका समाचार पढ़कर खेद हुआ। मैं चाहता हूँ आपके कष्ट दूर हों और आप सारे अभावोंसे मुक्त हो जायँ। मेरे वशकी बात होती तो मैं आपको कष्टमुक्त करनेमें बहुत ही सुखका अनुभव करता; परंतु यह मेरे वशकी बात नहीं है। मनुष्यको जो इस शरीरमें सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, वे अपने ही पूर्वजन्मोंमें किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंका फल है। इसीका नाम प्रारब्ध है। भगवान्‌के सिवा दूसरा ऐसा कौन है जो प्रारब्धकी गतिको रोक सके या उसको मिटा सके। आपको आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये और विश्वासपूर्वक उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् सब कुछ कर सकते हैं और वे स्वाभाविक ही आपके परम सुहृद् हैं। आप उनकी कृपा और सुहृदतापर विश्वास करके उनका स्मरण कीजिये और उनको अपने कष्टोंकी कथा सुनाइये। यह एक ऐसा अमोघ साधन है जो अनायास ही सब प्रकारके सङ्कटोंसे छुटकारा दिला सकता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता १८। ५८)

'मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरी कृपासे तुम सारी कठिनाइयोंको पार कर जाओगे।'

भगवान् शरणागतवत्सल हैं, वे शरणागतका कभी त्याग नहीं करते, न उसके पूर्वकर्मोंको ही देखते हैं। उनका व्रत ही है शरणागतको निर्भय करना—'मम पन सरनागत भयहारी।' अन्य सारे साधन विफल हो सकते हैं पर यह कभी विफल नहीं होगा। यह अमोघ है पर इसमें मुख्य बात है विश्वासकी। विश्वास होना चाहिये और होनी चाहिये निष्कपट हृदयकी आर्त पुकार। मैं तो आपसे यही कहता हूँ कि आप सब ओरसे सब आशा-भरोसा छोड़कर केवल सर्वसमर्थ प्रभुके शरणापन्न हो जाइये। फिर आपको आश्चर्यजनक रूपमें अपनी स्थितिमें परिवर्तन दिखायी देगा। अपने-आप ही ऐसे संयोग बन जायँगे, जो आपके संकटों और कष्टोंके मिटानेमें समर्थ होंगे।

जहाँतक बने नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम-जपका अभ्यास कीजिये। जितना ही नाम-जप गहरा होगा, उतना ही लाभ अधिक होगा। साथ ही, श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके तीसरे अध्याय—गजेन्द्र-स्तवन—का विश्वासपूर्वक आर्तभावसे प्रतिदिन पाठ कीजिये। आप यदि ऐसा करेंगे तो, मेरा विश्वास है, आपके संकट अवश्य दूर हो जायँगे।

(८)

पत्नीका त्याग अनुचित है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके वैश्य मित्रके धर्म-संकटका हाल मालूम हुआ। भलीभाँति विचार करनेके बाद इस सम्बन्धमें मेरे मनमें जो बात आयी है, उसे मैं नीचे लिख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि इसके अनुसार करनेसे आपके मित्रकी तथा उनके

घरवालोंकी भलाई होगी । पत्नीके त्यागका विचार तो कभी नहीं करना चाहिये । जब वह अपनेको निर्दोष बतलाती है, तब केवल सन्देहवश उसके पल्ले दोष बाँधना सर्वथा अनुचित और हानिकारक है । सन्देहका लाभ तो अदालतमें भी मिलता है । दूसरी बात यह है कि उनकी पत्नीकी तथा······की उम्रमें इतना अन्तर है कि वह पत्नीके मनमें आकर्षण उत्पन्न करने योग्य नहीं है । मैं तो समझता हूँ, उनकी पत्नीसे ऐसा कोई दोष बिल्कुल नहीं हुआ है । और वह सर्वथा निर्दोष है । उसके साथ आपके मित्रको धर्मपत्नी मानकर वैसा ही सुन्दर और स्वाभाविक व्यवहार करना चाहिये ।

फिर यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि स्त्रीमें कोई दोष आया है (यद्यपि ऐसी बात प्रतीत नहीं होती) तो वैसी हालतमें वस्तुतः उसमें प्रधान दोष किसका है, इसपर विचार करना चाहिये । मेरी समझसे तो ऐसे प्रसङ्गोंमें स्त्रीका दोष जहाँ दो-चार आने होता है, वहाँ पुरुषका बारह-चौदह आने होता है । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाती है कि स्त्री बेचारी विवश हो जाती है । इस दृष्टिसे भी वह सर्वथा क्षम्य है । दण्डका पात्र तो पुरुष होता है जो प्रायः बचा रह जाता है ।

पत्नीके त्यागमें तो हानि-ही-हानि है । कुछपर विचार कीजिये (१) यदि वह निर्दोष है और केवल सन्देहवश उसका त्याग कर दिया जायगा तो उसे महान् दुःख होगा । उसकी अन्तरात्माके मूक अभिशापसे आपके मित्रका अहित होगा । (२) परिस्थितिवश यदि कभी कोई दोष बना है, तो वह इसके लिये मन-ही-मन जलती ही होगी । त्यागकी बातसे उसकी वह जलन बढ़ेगी और उसको बड़ा दुःख होगा, जो आपके मित्रके लिये अनिष्टकारक होगा । (३) उसकी छोटी उम्र है, आजके गंदे वातावरणमें उसका जीवन पवित्र रहकर कैसे निभ सकेगा । यदि पवित्र न रह सका तो इसकी जिम्मेवारी भी आपके मित्रपर आवेगी । (४) आपके मित्र भी अभी युवक हैं, उनके जीवनमें भी पाप होना सर्वथा सम्भव है । (५) अभी तो घरमें ही क्लेश है, पर यह बात यदि मुहल्ले-गाँवमें फैली तो बड़ी बदनामी होगी, मान-सम्मानका नाश होगा और बच्चोंका सम्बन्ध होना कठिन हो जायगा । और यदि सन्देहवश इतनी बड़ी जोखिम उठायी जायगी तो वह बहुत बड़ी मूर्खताका कार्य होगा । और भी बहुत-सी हानियाँ हैं ।

आपके मित्रको चाहिये कि वे अपनी पत्नीके साथ हृदयसे प्रेम करें । मनुष्यमें कमजोरी होती है । मेरी तो ऐसी धारणा है कि स्त्रियोंकी अपेक्षा आजकल पुरुष अधिक पापी हैं । पापके प्रस्ताव और प्रयत्न पहले पुरुषोंकी ओरसे ही होते हैं । यदि कभी किसी परिस्थितिवश किसी स्त्रीसे कोई दोष बन भी गया हो तो उसे उसके पल्ले बाँधकर, उसे दोषी साबित कर उसके जीवनको बिगाड़ना नहीं चाहिये । यह और भी बड़ा पाप है; क्योंकि इसमें पापोंके बहुत अधिक बढ़नेकी सम्भावना है । किसीके छिद्रको प्रकाश करनेकी अपेक्षा अपना अंग देकर भी उसे ढक देना कहीं श्रेष्ठ है । फिर वह तो उनकी धर्मपत्नी है और आपके लिखनेके अनुसार बड़े अच्छे स्वभावकी भी है । उसे सर्वथा निर्दोष मानकर ही व्यवहार करना चाहिये । इसीमें उसका और आपके मित्रका तथा बच्चोंका कल्याण है । हाँ, यदि आवश्यक ही हो और सम्भव हो तो वृद्ध महाशयके लिये पृथक् प्रबन्ध किया जा सकता है । अवसरपर उनका तो त्याग भी किया जा सकता है, पर धर्मपत्नीका नहीं । यही धर्म है और यही कर्तव्य है ।

इसके अतिरिक्त विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और उनकी पत्नीको भी चाहिये कि वह भी नित्य भगवान्‌के नामका नियमित जप करें । तथा

सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करें। इससे पिछले पापोंका नाश होगा, मनमें पवित्रता आवेगी और भविष्यमें पापोंसे बचनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

(९)

प्रेमसे ही सुधार हो सकता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार जाने। आपका लिखना यदि सत्य है और उसके सच्चे सबूत आपके पास हैं, तब तो वे भाई लोग अवश्य ही बड़े दोषी हैं और इस हालतमें उनके साथ सब प्रकारका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। उनको कभी घरमें नहीं आने देना चाहिये। लड़ाई-झगड़ा न करके शान्तभावसे ही ऐसा निश्चय कर लेना उत्तम है। लड़ाई-झगड़ेमें कटुता बढ़ती है, बदनामी फैलती है और अपने मान-सम्मानको भी धक्का पहुँचता ही है। पत्नीको पिताके घर न रखकर अपने घर ही रखना चाहिये और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयमें परिवर्तन हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। दोष सभीसे होते हैं, भगवान् ही बचाते हैं। यदि हम किसीको दोषी साबित करके उसके दोषकी घोषणा कर देंगे तो इसमें कोई लाभ न होगा। वह पक्का अपराधी बन जायगा। इसके स्थानपर यदि हम उससे प्रेम करेंगे और अपने सद्व्यवहारके द्वारा उसके हृदयको जीत लेंगे तो संभव है उसका जीवन सुधर जाय एवं वह पवित्र आचरण करने लगे। इसलिये दोषीके दोषसे तो घृणा करनी चाहिये, पर दोषीसे नहीं। उसे दोषमुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैसे किसी भयानक रोगमें रोगीके रोग-नाशके लिये निपुण चिकित्सक उसे कुचला, भिलावा, संखिया, अफीम और सर्पविष आदि विष भी दवाके रूपमें देते हैं—पर देते उतनी ही मात्रामें तथा वैसे ही ढंगसे हैं जिससे रोगीपर विषका असर उतना ही हो, जितना उसके रोगनाशके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार कभी-कभी हित-कामनासे कटु व्यवहार भी करना पड़े तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु उस समय भी मनमें प्रेम तथा हितके भाव ही होने चाहिये। द्वेष तथा दुःख पहुँचाकर सुखी होनेके नहीं। ऐसा व्यवहार वस्तुतः वही कर सकता है जो राग-द्वेषसे छूटा हुआ हो। राग-द्वेष होनेपर साधारणतः ऐसे व्यवहारमें भूल हो जाया करती है। इसलिये जहाँतक संभव हो, व्यवहार मधुर ही करना चाहिये। साथ ही सावधानी रखनी चाहिये, जिससे भविष्यमें इस प्रकारके दोष बननेका अवसर ही न आवे। ऐसे पाप एकान्त पानेपर हुआ करते हैं। अतः एकान्तसे बचाना चाहिये तथा पुरुष-संसर्ग न हो, इसके लिये सावधान रहना चाहिये। शास्त्रोंमें यह स्पष्ट आदेश है—

तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्माद् वह्निं घृतं चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

(चाणक्य)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु)

'स्त्री जलती हुई आगके समान है और पुरुष घृतसे भरे घड़ेके समान। बुद्धिमान् पुरुष घी और अग्निरूप स्त्री-पुरुषको कभी एक स्थानपर न रक्खे।'

'माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एकान्तमें एक साथ नहीं बैठना चाहिये। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान्को भी विषयकी ओर खींच लेती हैं।'

आप भगवान् श्रीकृष्णके विग्रहकी पूजा करते हैं। दैवी सम्पत्तिके गुणोंको धारण करना चाहते हैं और काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं——सो बड़े आनन्दकी बात है। विपरीत परिस्थितिमें ही इसकी परीक्षा होती है। आप श्रीमद्भगवद्गीताका अर्थ समझकर पाठ करते रहिये। भगवान्का नाम-जप तथा प्रार्थना करते रहिये। आपकी पत्नीको सद्बुद्धि मिले, इसके लिये भी भगवान्से प्रार्थना कीजिये। पत्नीको मैकेमें न रखकर अपने घरपर रखिये और उसके साथ प्रेमयुक्त यथायोग्य

व्यवहार करके उसका सुधार कीजिये। आपके घर रहनेपर वह मांस खाना आप ही छोड़ देगी।

घर छोड़कर एकान्तवास करनेमें लाभ नहीं होगा। घरमें ही रहकर अपनी साधनाकी रक्षा करते हुए भगवान्‌की कृपाके बलपर घरका सुधार कीजिये। भगवान्‌की कृपासे कुछ भी असंभव नहीं है, इसपर विश्वास कीजिये। साधुवृत्ति मनमें रखिये और उसे बढ़ाइये। उसको बाहर प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता है। आपके बच्चे हैं, उनके लिये भी आपका घरमें रहना आवश्यक है।

संसारका यही स्वरूप है। इस घरके तो यही तमाशे हैं। तमाशोंकी भाँति इन्हें देखते रहिये और इस तमाशेमें जहाँ अपने स्वाँगके अनुसार जो खेल करना हो, उसे सावधानीसे पूरा करते रहिये—भगवान्‌की आज्ञा मानकर उन्हें सदा स्मरण रखते हुए, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये ही। भगवान्‌के इस जगन्नाटकमें हम सभी पात्र हैं और सभीको ईमानदारीके साथ अपने-अपने जिम्मेका अभिनय सुचारुरूपसे करना चाहिये—यही निष्काम कर्मयोग भी है।

(१०)

भगवत्पूजामें भावकी प्रधानता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। आपको 'भगवान्‌की पूजासे प्रेम था, पूजामें बड़ा आनन्द आता था और एक दिन भी पूजा छूटनेपर बड़ा कष्ट होता था।' यह स्थिति बहुत ही सराहनीय है। अब आपको पहले-जैसा प्रेम नहीं प्रतीत होता, इसलिये आप चिन्तित हैं। यह भी शुभ लक्षण है। प्रेमका अभाव न प्रतीत होना प्रेमका अभाव सिद्ध करता है। प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़नेवाला है। उसमें नित्य कमीका बोध होना चाहिये, तभी वह बढ़ता है। जो लोग प्रेमकी पूर्णता मान लेते हैं, वे प्रेममार्गसे च्युत हो जाते हैं, नहीं तो कम-से-कम उनका मार्ग रुक तो जाता ही है। भगवान्‌में नित्य-निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे, इससे बढ़कर सौभाग्य और क्या हो सकता है। जो मनुष्य भगवत्प्रेमकी कमीसे व्यथित रहते हैं, उनपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है और वे भगवत्कृपासे प्रेमको प्राप्त भी कर सकते हैं। साधनके क्षेत्रमें किसी भी प्रगतिपर रुकना बहुत बड़ा विघ्न है। वहाँ तो चलते ही जाना है—आगे-से-आगे। किसी भी स्थितिमें सन्तोष नहीं करना चाहिये। भजनमें सन्तोष कैसा। वह तो जितना बने, उतना ही थोड़ा। और इस थोड़ेकी भावना साधकको सदा अहङ्कार-शून्य एवं साधनसम्पन्न बनाये रखती है, जिससे उसकी प्रगति कभी रुकती नहीं।

आपने रजोधर्मकी अवस्थामें भी भगवान्‌का पूजन नहीं छोड़ा, यह जैसे एक ओर प्रेमका निदर्शन है, वैसे ही दूसरी ओर शास्त्र-मर्यादाका उल्लङ्घनजनित दुष्कृत भी है। जहाँ प्रेमकी इतनी प्रगाढ़ता हो कि बाह्य ज्ञान सर्वथा न रहे, वहाँ तो कोई विधि-निषेध नहीं है। पर जहाँ शरीरकी सुधि है, वहाँ शास्त्र-मर्यादाका पालन परम आवश्यक है। शास्त्र भगवान्‌की ही आज्ञा है। अतएव उसका पालन ही करना चाहिये। रजस्वलाकी स्थितिमें दूरसे भगवान्‌का दर्शन और प्रणाम किया जा सकता है और मानस ध्यान-पूजन-चिन्तन तो आप सभी अवस्थामें कर सकती हैं। मानस-पूजन कर लेनेपर पूजा भी नहीं छूटती, मानस-पूजनका महत्त्व भी अधिक है और शास्त्र-निषिद्ध आचरण भी नहीं होता। अतएव रजस्वला-अवस्थामें बाह्य पूजा किन्हीं शुद्ध ब्राह्मण या घरके अन्य श्रद्धालु व्यक्तिके द्वारा करा देनी चाहिये।

रजस्वला-अवस्थामें पूजन-स्पर्शादि किया, इसके लिये आपने प्रायश्चित्त पूछा सो भक्तिके क्षेत्रमें यह बहुत बड़ा अपराध तो नहीं है। यहाँ विधिकी अपेक्षा भावका मूल्य अधिक है। तथापि जब शास्त्रनिषिद्ध आचरणके लिये मनमें विचार है, तब उसका प्रायश्चित्त भी अवश्य कर लेना चाहिये। इसके लिये भगवान्‌के सर्वपापनाशक मङ्गलमय नामकी (हरे रामके १६ नामके मन्त्रकी) एक माला कम-से-कम एक वर्षतक प्रतिदिन जप लिया कीजिये। भगवान्‌का नाम-जप, पूजन, ध्यान आदि

साधन बड़े उत्साहके साथ करने चाहिये, साथ ही घरके काममें भी सावधान रहना चाहिये। घरको भगवान्‌का मन्दिर, पतिको परमेश्वर, घरके अन्य लोगोंको भगवान्‌के पार्षद एवं बालकोंको भगवान्‌के सखा मानकर जो भगवान्‌का स्मरण करते हुए ही अनासक्त भावसे घरका काम किया जाता है, वह भगवान्‌का पूजन ही होता है। पतिकी सर्वविध तथा गुरुजनोंकी मर्यादित सेवा, बालकोंका लालन-पालन और घरकी सार-सँभार करना स्त्रीका धर्म है। इस कर्मको यदि वह भगवान्‌के पूजनके भावसे करे तो और कुछ भी बिना किये वह भगवान्‌की प्रीतिपात्र हो सकती है एवं भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌का दुर्लभ प्रेम प्राप्त कर सकती है।

पशुओंके रोग और उनकी चिकित्सा

(लेखक—श्रीमङ्गलसिंहजी पँवार 'किसान-केसरी')

प्रत्येक देशमें पालतू पशु देशीय सम्पत्तिका एक बड़ा भारी अंश है। हमारा भारत अन्य देशोंके सम्मुख पशु-धनमें भी दरिद्र है। हम नाममात्रको गौको माता कहते हैं; परंतु वस्तुतः उसे गंदी जगहमें रखते हैं, गंदा पानी पिलाते हैं और उसके आहारका प्रबन्ध भलीभाँति नहीं कर सकते। यहाँ अकाल पड़ने अथवा पशु-रोग फैलनेपर तो ७५ फीसदीतक पशु मरते पाये गये हैं।

हमारे देशमें खेतीका सब काम गाय-बैलके ऊपर निर्भर है और दूध-घीके लिये गाय, भैंस, भेड़ और बकरी हैं। इन पशुओंमें कोई-न-कोई रोग अवश्य फैलता है जिससे हजारों पशुओंको मृत्युका शिकार बनना पड़ता है। यदि पशु स्वस्थ रहें तो कृषि-सम्बन्धी सब कार्य अच्छे होंगे। पशुओंके थकने या मरनेसे कृषकोंकी खेती और अवस्था भी अत्यन्त खराब होगी। जिस प्रकार मनुष्योंको कई रोग हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार पशुओंको भी हुआ करते हैं। परंतु कोई-कोई ऐसा भयङ्कर रोग भी होता है जिससे पशु मर जाता है और वह बीमारी एक पशुसे दूसरे पशुको लग जाती है—जैसे प्लेग, माता और सूगल्या।

अतः सर्वप्रथम हमें स्वस्थ और अस्वस्थ पशुकी परीक्षा करनी अत्यावश्यक प्रतीत होती है—

स्वस्थ पशुके लक्षण—स्वस्थ पशु गाय, भेड़, बकरी और बैल साधारण तौरसे सभी फटे खुरवाले होते हैं और बहुत शान्ति और रुचिसे घास खाते हैं और बैठे-बैठे जुगाली करते रहते हैं। उनकी थूथनका अग्रभाग हमेशा गीला रहता है। चमड़ा ढीला-सा और नरम होता है और पसलियोंपर साँसके साथ हिलता रहता है। वह झुंडमें अपने साथियोंके साथ रहता है। आँखें सतेज दृष्टिगोचर होती हैं। गोबर सरस और नरम होता है। पेशाब अधिक करता है, पेशाबका रंग अधिक लाल या पीला नहीं होता। नर पशु चलते-चलते पेशाब करता जाता है।

अस्वस्थ पशुके लक्षण—बीमार पशुकी थूथन सूखी-सी होती है। पशु सुस्त दृष्टिगोचर होता है। झुंडसे दूर जाकर खड़ा रहता है, गोबर बहुत ही पतला होता है। लाल या पीले रंगका पेशाब थोड़ा-थोड़ा उतरता है। नाड़ीकी मामूली गति ५०, तापमान १०१ तथा १०२ डिग्रीतक और साँस एक मिनटमें १० से २० बार चलती है।

पशुओंको प्रायः दो प्रकारकी बीमारियाँ होती हैं—(१) वे मुख्य रोग—जो केवल गाय, भैंस, बैल, बकरी और भेड़ आदि पशुओंको ही होते हैं। (२) वे जो मनुष्य और पशु दोनोंको होते हैं। पहले वर्गके रोग अत्यन्त भयङ्कर होते हैं और छूतसे लगनेवाले होते हैं। दूसरे वर्गके रोग जैसे—दस्त, अजीर्ण और आफरा इत्यादि इतने भयङ्कर रोग नहीं हैं।

रोगके कारण—(१) रोगी पशुकी छूत, (२) वंश-परम्पराकी बीमारियाँ, (३) गंदी जलवायु, (४) सड़ी-गली खुराक और गंदा पानी तथा (५) परोपजीवी कीड़े आदि मुख्य रोग होनेके कारण हैं।

१–कुछ रोग छूतसे फैलते हैं। रोगी पशुसे या उसके मल, मूत्र, पानी, घास आदिके द्वारा रोगके कीड़े एक पशुसे दूसरे पशुके शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं।

२–कई रोग ऐसे हैं, जिनके कीटाणु माता-पितासे सन्ततिमें उतर आते हैं। जबतक जलवायु और परिस्थिति कीटाणुओंकी वृद्धिके अनुकूल नहीं रहती है, पशु स्वस्थ रहता है; किंतु किसी कारणसे पशुके कमजोर हो जानेपर कीटाणु जोर पकड़ लेते हैं।

३—गंदे मकानोंमें रखनेसे भी पशुओंका स्वास्थ्य गिर जाता है। पशुओंको ऐसी जगहमें रखना चाहिये जहाँ कि उन्हें सर्वदा स्वच्छ वायु अत्यधिक मात्रामें प्राप्त होती रहे और गंदी वायु ठहरने नहीं पावे।

४—सड़ा-गला, अपर्याप्त और अपुष्टिकर भोजनके कारण भी कई रोग आ दबाते हैं। गंदा और मैला पानी भी स्वास्थ्यके लिये अहितकर है।

५—पशुके शरीरपर या शरीरके भीतर कई तरहके परोपजीवी कीटाणु घर कर लेते हैं। इन कीड़ोंके कारण भी अत्यधिक हानि होती है। जल, चारा या साँसके साथ ये कीटाणु पशुके पेटमें प्रवेश होते हैं। अतएव ठाणको स्वच्छ रखना अत्यावश्यक है। जमीन और दीवारोंपर कृमिनाशक ओषधियाँ छिड़कते रहना चाहिये।

पशुओंमें ये कीड़े फैलने नहीं पावें इसके लिये निम्नाङ्कित बातोंपर ध्यान रखना अत्यावश्यक है—

१—अच्छे स्वस्थ पशुओंको रोगी पशुओंसे पृथक् रखना चाहिये और एक ही बाड़ेमें या कोठेमें नहीं रखना चाहिये।

२—रोगी पशुओंकी जूँठी घास, चंदी, दाना-पानी पृथक् रखना चाहिये।

३—रोगी और स्वस्थ पशुओंको एक ही झुंड और एक ही चरोखरमें कभी भूलकर भी नहीं चराने चाहिये।

४—रोगी पशुका गोबर और मूत्र एकत्र करके जला देना चाहिये या गड्ढेमें गाड़कर दबा देना चाहिये जिससे बीमारीका कीड़ा नष्ट हो जाय और अन्य पशुओंको नहीं लगे।

५—पशु यदि मर जाय तो उसकी चमड़ी नहीं उतरवानी चाहिये, उसको जला देना चाहिये अथवा गहरे गड्ढेमें गड़वा देना चाहिये और ऊपरसे चूना डलवा देना चाहिये जिससे बीमारीका कीड़ा दूसरे पशुको नहीं लग सके। एक पशुके चमड़ेके लोभमें अन्य सैकड़ों पशुओंकी मृत्यु हो जाय, ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। गाँवके रेगरोंको भी चाहिये कि ऐसी बीमारीसे मरनेवाले पशुओंकी खाल नहीं निकालें और उसको जला दें।

६—रोगी पशुको हलकी और पतली घास देनी चाहिये। हरी घास रोगी पशुओंको लाभप्रद है अतएव यदि हो सके तो ताजी हरी घास खिलानी चाहिये।

७—रोग मिट जानेपर जिस जगह रोगी पशु रक्खे गये हों, उस जमीनकी बालिश्त डेढ़ बालिश्त गहराई तककी मिट्टीको खोदकर ढीली कर देनी चाहिये और फिर उसपर घास और घासलेट डालकर जला देनी चाहिये। ऐसा करनेसे मिट्टीके भीतर छिपकर बैठे हुए कीटाणु नष्ट हो जायँगे। चूनेके पानीमें कारबोलिक एसिड या फिनाइल मिश्रणकर छिड़कनेसे भी कीटाणु मर जाते हैं।

८—छूआछूतकी बीमारीका प्रसार रोकनेके लिये ऊपर लिखी हुई बातोंपर अमल करना अत्यावश्यक है। खराब और बेकार चीजें पशुओंको खिलानेसे पैसोंकी तो बचत हो जाती है; परंतु आगे चलकर जानवर कमजोर होकर मर जाता है और घी-दूधकी मात्रा अत्यधिक न्यून हो जाती है। तेज धूप, कड़ाकेकी सर्दी और वर्षासे भी पशुओंको बचाये रखना आवश्यक है।

९—पशु-चिकित्सकसे पशुओंका हर समय निरीक्षण कराते रहना चाहिये, जिससे अस्वस्थ पशुकी चिकित्सा शीघ्रतया हो सके।

माता या चेचक—यह छूतकी बीमारी, गाय, बैल, भैंस, ऊँट, भेड़ और बकरी आदिको होती है। पहाड़ी और जंगली प्रान्तोंमें ९५ प्रतिशत रोगी पशु मर जाते हैं। मैदानी प्रान्तोंमें ५० प्रतिशततक मर जाते हैं। इस रोगका भलीभाँति इलाज करनेसे जो रोगी पशु बच जाता है उसको यह रोग फिर दुबारा नहीं लगता।

लक्षण—बीमार पशुका गोबर पतला और बदबूदार होता है। मुँहमें जिह्वाके नीचे छोटे-छोटे छाले होते हैं। मुँहमेंसे लार पड़ती है जो हाथ-माथेपर चिपक जाती है। औरैय्या और नाक गरम होता है और उसमेंसे गाढ़ा-गाढ़ा पानी पड़ता है। शरीरमें रोगका विष फैलनेके पश्चात् १० या १५ दिनके अंदर रोगके लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आरम्भावस्थामें पशु सुस्त हो जाता है। तापमान बढ़ जाता है। घास कम चरता है। जुगाली करना शनैः-शनैः बंद हो जाता है। दूध देनेवाले पशुके दूधकी मात्रा न्यून हो जाती है। रोगी पशुके कान पीछेकी ओर ढुलक जाते हैं। गोबरपर एक प्रकारका सफेद आवरण-सा लगा होता है। धनुर्वातके रोगीकी भाँति रीढ़ टेढ़ी हो जाती है। नाड़ी और साँसकी गति बढ़ जाती है। दूसरी अवस्थामें तापमान कुछ घटता-बढ़ता रहता है। आँखें बहने लगती हैं। दस्त आरम्भ हो जाते हैं जो बहुत ही बदबूदार होते हैं। किसी-किसी रोगीको कफ बढ़ जानेके कारण हलकी खाँसी आनी आरम्भ हो जाती है। तीसरी अवस्थामें दस्त पतले आने लगते हैं और दस्तके साथ कुछ-कुछ रक्त

भी गिरता है। सींग, कान और शरीरका चमड़ा कुछ ठंडा-सा प्रतीत होता है। साँस फूलने लगती है। ग्याभिन पशुका गर्भ गिर जाता है। नाक बहने लगती है। पशु छटपटाने लगता है और मर जाता है।

इलाज—पशु-चिकित्सकको बुलवाकर रोगी पशुको पिचकारी लगवा देना सर्वोत्तम इलाज है और नीरोग पशुओंको भी पिचकारी लगा देनेसे रोग उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। परंतु स्वस्थ पशुको अस्वस्थ पशुसे पृथक् रक्खें। रोगी पशुको दस्त लगनेकी ओषधि देना। परंतु दस्त आरम्भ होनेसे पूर्व अलसीकी काँजीमें खानेका नमक या अलसीका तेल आधासेरमें सवा तोला सोंठका चूर्ण मिलाकर पिलानेसे जो दस्त लगेंगे उनसे रोगका विष बाहर निकल आवेगा। एलवा ५ तोला, सोडियम कार्बोनेट ५ तोलाको ४० तोला उबाले हुए जलमें मिला दिया जाय। इस प्रकार तैयार किये हुए २५ तोला मिश्रणमें २० तोला मेगनिशिया मिलाकर पिला देनेसे जुलाब लगेगा। अगर मुँहसे पिलाना मुमकिन न हो, तो तारपीनका तेल २½ तोला, एरंडीका तेल ५ तोला, भूनी हुई हींग ½ तोलाको साबुनके दो सेर पानीमें मिलाकर एनिमा दे दिया जाय। यह इलाज रोगके आरम्भमें यानी बुखारके चढ़नेसे पहले करना चाहिये। पोटेशियम परमेंगनेट (लाल दवा) १५ ग्रेन और देशी शराब ४ औंसको १ पिंट पानीमें मिश्रितकर मिश्रणको पिलानेसे भी पेटका विष नष्ट हो जाता है।

यदि रोगी पशु कमजोर मालूम हो तो (१) देशी शराब ४ औंस, सोंठका चूर्ण ½औंस, काली मिर्चका चूर्ण २ ड्रामको एक पिंट काँजीमें मिलाकर पिलाया जाय या (२) अमोनिया क्लोराइड ½औंस, सोंठका चूर्ण ½औंस, कुचला (नक्सवॉमिका) ७ ड्रामको एक पिंट ठंडी काँजीमें मिलाकर पिलाया जाय। इन शक्तिदायक ओषधियोंको दिनमें २ या ३ बार देना चाहिये।

एक कोठेमें तीस-चालीस ढोर बाँध दिये जायँ और फिर सब दरवाजे और खिड़कियाँ बंद कर दी जायँ। खानेका नमक एक सेर कुछ गरम करके एक चीनीकी तश्तरीमें भरकर मकान (कोठे) के भीतर रख दिया जाय। इस नमकपर गन्धकका तेज तेजाब एक औंस डालकर, मनुष्य बाहर निकल आवे और शीघ्रातिशीघ्र दरवाजा बंद कर दे। इससे निकला हुआ धुआँ सारे कोठेमें फैलकर साँसके साथ पशुओंके शरीरमें प्रवेश कर जायगा—जिससे वे खाँसने लगेंगे। जबतक पशु जोरसे खाँसने नहीं लगें, दरवाजा नहीं खोलना चाहिये। कोठेका द्वार दस मिनट पश्चात् खोल देना चाहिये जिससे वायु भीतर प्रवेश कर सके और सब धुआँ बाहर निकल जाय। इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल लगातार ३-४ दिनतक करना चाहिये। खाँसी हो जानेसे पशुओंको कुछ दिनोंतक कष्ट तो भुगतना पड़ेगा; परंतु उनपर इस बीमारीका हमला नहीं हो सकेगा। यह परीक्षित नुसखा है। इस प्रकार इलाजकर कई ढोरोंकी जानें बचायी जा चुकी हैं।

खुरपका या सुगलियाका रोग—यह भी छूतका रोग है। इसलिये यह रोग एक पशुसे दूसरे पशुको शीघ्रतया लग जाता है। यह बीमारी एकसे दूसरे पशुमें, दूसरे पशुसे मनुष्य, चारा, जंगल, रेल वगैरहके द्वारा जहाँपर रोगी पशु रहते हैं, प्रायः दूसरे पशुओंको लग जाया करती है।

लक्षण—इस बीमारीवाले रोगी पशुका बदन धूजता है और सुस्त रहने लगता है और भूख जाती रहती है। कभी-कभी पशुका पैर दुखता है जिससे वह पैरोंको हिलाया करता है। बादमें पैर अकड़ जाता है और पशु लँगड़ा हो जाता है। पशुके मुँहसे लार टपकती है और मुँहके अंदर कभी-कभी छाले भी पड़ जाते हैं और फूटकर घाव पड़ जाते हैं। कभी-कभी पैरमें भी जख्म हो जाता है जिससे पशु थकने लग जाता है। इसकी चिन्ता नहीं की जाय तो पैरमें कीड़े पड़ जाते हैं और कीड़ेका उचित उपचार नहीं किया जाय तो पशु मर जाता है। गायके थनपर छाले निकल आते हैं। और कई पशुओंके मुँह, थन, खुर और आँचलपर छाले पड़ जाते हैं।

इलाज—रोगी पशुसे कतई काम नहीं लेना चाहिये। रोगी पशुको पूर्ण विश्राम करने देना चाहिये। स्वच्छताका पूर्ण ध्यान रक्खा जाय। जहाँ रोगी पशु बैठता है, उस जगहको स्वच्छ रखना अत्यावश्यक है और वहाँकी जमीन सूखी रखना भी आवश्यक है। रोगी पशुको नरम और शीघ्र पचनेवाली खुराक दी जाय, इसके लिये हरी घास उपयोगी है। खानेका नमक अत्यधिक मात्रामें दिया जाय। चावलकी पतली काँजीमें ७ तोला गुड़ और ३ तोला खानेका नमक मिलाकर देना भी लाभप्रद है। जुलाबके लिये दवा देनेसे रोगी पशुके बुखारकी शक्ति कम हो जाती है।

मुँहके छालोंका इलाज—फिटकरी या बोरैक्सके लोशनसे जीभ और मुँह धोना चाहिये। ४० भाग पानीमें एक भाग दवा मिलाकर लोशन बनाया जाता है। इसमें नरम कपड़ा

या रूई तर करके दिनमें तीन बार जीभ और मुँह धोना चाहिये।

खुरीके छालोंका इलाज—खुर तथा आसपासके भागको सहते हुए गरम जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। गरम पानीकी धार डालकर दिनमें दो या तीन बार सेक करना अच्छा है। एक भाग कपूर, ४ भाग मीठे तेल (तिल्लीके तेल) में ½ भाग तारपीनका तेल मिला दिया जाय। गरम तेलमें कपूर शीघ्रतया गल जाता है। इस ओषधिको घाव या छालेपर लगा देना चाहिये। अगर जख्म कुछ खराब हो गया हो तो फुलाये हुए नीलेथोथेका चूर्ण घावपर छिड़ककर उसपर कारबोलिक तेल या नीमके तेलमें भिगोया हुआ नरम पट्टा बाँध दिया जाय। अगर घाव अधिक गहरा हो और खुर निकल जानेका भय हो तो ढाई तोला पानीमें दस ग्रेन नीलाथोथा और पाँच ग्रेन जिंकसल्फेट डालकर जख्मको धो डालना चाहिये। दस भाग पानीमें एक भाग तम्बाकू डालकर उबाल लेना चाहिये और फिर छानकर इस्तेमाल करना चाहिये। इस पानीसे खुरीके फोड़े और जख्म धोये जा सकते हैं। पानीमें नीमके पत्ते डालकर उबालने चाहिये। इस पानीसे पाँव धोये जायँ। यदि रोजाना पाँव धोना उचित न हो तो टारलिनिमेंट लगाना चाहिये। खुरीके जख्मोंमें कीड़े पड़ जायँ तो उन्हें सावधानीसे निकालना चाहिये। इसके पश्चात् आधा सेर चूनेके पानीमें चार ग्रेन रसकपूर डालकर उससे जख्म धोते रहना चाहिये। केलोमल और चाक समान भाग लेकर भलीभाँति मिश्रितकर खुरीमें भरकर पट्टा बाँध देना चाहिये।

थनके छाले—फिटकरी मिले हुए गरम पानीसे धोकर कपूर, तारपीनका तेल तथा तिल्लीके तेलके मिश्रणसे तैयार किया हुआ मलहम लगा देना चाहिये।

अकसर देखा जाता है कि खुरीमें फोड़े होनेपर ढोरोंको घुटनेतक कीचड़में खड़ा करते हैं। इससे छालोंपर कीचड़ जम जाता है और मक्खियाँ नहीं बैठतीं। गरम धूलमें पशुओंको खड़ा करनेसे पाँवोंकी सेंक तो हो जाती है परंतु घावमें कीचड़ और मिट्टी भर जानेसे घाव खराब हो जाता है और मुश्किलसे वापिस भर पाता है। सड़ना आरम्भ हो जानेसे पशुको कष्ट भी अधिक होता है। अक्सर खुरी भी निकल जाती है। रुग्ण भागको गरम पानीसे धोकर नरम कपड़ेका पट्टा बाँधकर ऊपरसे टाट लपेट देना चाहिये। रोगी पशुसे काम नहीं लेना चाहिये। गायको सावधानीसे दुहना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि छाले या जख्मपर हाथ नहीं लगने पावे।

गिल्टी या गोली—यह रोग मनुष्य आदि सभी प्राणियोंको होता है। घोड़े, गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट और बकरीको यह रोग अतिशीघ्र हो जाता है। मैदानके पशुओंको यह रोग बहुत ही कम मात्रामें होता है। यह पशुओंके लिये अत्यन्त घातक रोग है। खूनकी खराबी ही इसका मुख्य कारण है। दल-दलवाले प्रान्तोंमें यह बीमारी अधिक होती है। चारा, पानी, शरीरपर हुए घाव और कभी-कभी साँससे यह रोग फैलता है। इस रोगके कीड़े बहुत लंबे समयतक जीवित रहते हैं। इससे ८० प्रति सैकड़ा रोगी पशु मर जाते हैं।

लक्षण—कई रोगी एकाएक मर जाते हैं। ऐसी अवस्थामें रोगके कोई प्रत्यक्ष लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। बुखार १०६ डिग्रीतक चढ़ जाता है। भूख मिट जाती है। शरीरके किसी भी भागमें सूजन दिखायी देती है जो बहुत ही तेजीसे बढ़ती जाती है। सूजा हुआ भाग दबानेसे दर्द नहीं होता। पेटमें दर्द रहता है। पशु लड़खड़ाकर गिर पड़ता है और उसी वक्त मर जाता है। जब पशु मर जाता है तब मरनेके पश्चात् अक्सर खूनका दस्त होता है। मृत पशुका शरीर चीरकर देखनेसे खून बिल्कुल काला-स्याह दृष्टिगोचर होता है। छाती, पेट और चमड़ेके नीचे सूजन दिखायी देती है।

इलाज—इस रोगका कोई भी अचूक इलाज नहीं है। जुलाब देनेसे इस रोगका जहर मलके साथ शरीरसे बाहर निकल आता है। रोग आरम्भ होते ही जुलाब देना अत्यन्त आवश्यक है। फिनाइल आदि कृमिनाशक ओषधि उचित मात्रामें पिलानेसे कुछ लाभकी आशा की जा सकती है।

अगर जुलाबके लिये मुँहसे दवा पिलानेमें कुछ कठिनाई प्रतीत हो तो एनिमा देना चाहिये। खराब खूनके एकत्र हो जानेसे ही यह रोग हो जाता है। अतएव कुछ पशु-चिकित्सक नस काटकर खून निकालना उचित समझते हैं। यदि ऐसा करना आवश्यक हो तो रोगके आरम्भमें ही करना उचित है। अनुभवसे ज्ञात हुआ है कि गन्धककी धूनी देनेसे फायदा होता है। दो-दो या तीन-तीन घंटेके पश्चात् धूनी देना लाभप्रद है।

ढोरोंको एक कोठेमें बाँधकर कोठेके द्वार और खिड़कियाँ इस प्रकार बन्द किये जायँ कि कुछ-कुछ खुले रहें। सिगड़ी या तगारीमें आग रखकर उसपर गन्धक डाल दी जाय। पशुओंके कुछ जोरसे खाँसना आरम्भ करते ही दरवाजे और खिड़कियोंके द्वार पूरे खोल देने चाहिये जिससे ताजी स्वच्छ वायु भीतर प्रवेश कर सके। यदि एक ही पशुको धूनी देना हो तो आगपर गन्धक डालकर उसके नाक और मुँहके पास

रखना चाहिये और जोरसे खाँसी आना आरम्भ होते ही हटा लेना चाहिये ।

पशुरोगके कुछ परीक्षित नुसखे

जुलाबके लिये—अलसीका तेल या अरंडीका तेल ५ छटाँक, तिल्लीका तेल ५ छटाँक, जमालगोटाका तेल २० बूँद—इन सबका मिश्रणकर पशुको नालसे पिलाना चाहिये ।

पशुओंकी शक्तिवर्द्धक ओषधि—(१) शराब २ छटाँक, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, काली मिर्च ६ दुअन्नी भर—इन सबका मिश्रणकर लगभग तीन पाव पतले दलियेके साथ देना चाहिये । (२) नौसादर पाव छटाँक, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, पीसा हुआ कुचला ३ दुअन्नी भर—इनको मिलाकर लगभग तीन पाव ठंडे पतले दलियेके साथ देना लभप्रद है ।

शक्तिवर्द्धक और पेटके कीटाणु मारनेकी ओषधि—पीसा हुआ हीराकसीस पाव छटाँक, कुचला ३ दुअन्नी भर, चिरायता आधी छटाँक—इन सबको मिलाकर लगभग तीन पाव दलियेके साथ या अन्य किसी खानेकी चीज़के साथ देना हितकारी है ।

दस्त बंद करनेकी दवा—वाकमिट्टी आधी छटाँक, पीसा हुआ कत्था पाव छटाँक, पीसा हुआ अजवायन पाव छटाँक—इन सबको मिलाकर दिनमें दो बार पतले दलियेके साथ देना चाहिये ।

दस्त बंद करने तथा पेटके कीड़े मारनेकी ओषधि—पीसा हुआ नीलाथोथा ३ दुअन्नी भर, पानी १० छटाँक—इन दोनोंको मिश्रितकर पिलावें ।

दर्द दूर करनेकी दवा—पीसी हुई भाँग ९ दुअन्नी भर, पीसी हुई हींग ९ दुअन्नी भर, पीसी हुई सोंठ पाव छटाँक, शराब दो छटाँक—इन सबको मिलाकर लगभग तीन पाव दलियेके साथ देना चाहिये ।

दर्दको दूर करनेवाली और पेटके कीटाणु मारनेवाली दवा—तारपीनका तेल आधी छटाँक, अलसीका तेल दो छटाँक । इन सबको मिलाकर नालद्वारा पिलावें ।

पेटके कीटाणु मारनेकी दवा—पीसी हुई हींग आधी छटाँक, पीसी हुई गन्धक एक छटाँक, पीसे हुए पलासके बीज १ छटाँक—इन सबको मिलाकर एक पुड़िया प्रतिदिन १० दिनतक पतले दलियेमें मिलाकर देनी चाहिये ।

घावपर लगानेकी दवा—(१) फिनाइल एक हिस्सा, पानी १०० हिस्सा । (२) पीसा हुआ सुहागा, पीसा हुआ लकड़ीका कोयला, पीसी हुई फिटकरी, पीसा हुआ नीला-थोथा—सब समान भाग लेकर जब घावोंपर दवा छिड़कनी हो तो इस ओषधिको काममें लाना चाहिये ।

दर्दकी जगह मालिश करनेका तेल—तारपीनका तेल और राईका तेल समान भाग लेकर लगाना चाहिये और खूब मालिश करनी चाहिये ।

इस प्रकार पशुओंकी अन्य बीमारियोंकी भी चिकित्सा हो सकती है । इस तरह रोगी पशुओंकी चिकित्सा करके हम पशुओंकी जान बचा सकेंगे । परंतु खेद है कि हमारे भारतमें पशु-वधका एक बड़ा भारी रोग लगा हुआ है । जब कि उपयोगी पशुओंकी मात्रा दिनोंदिन कम होती जा रही है और उनके दूधकी मात्रा, बल और कद सब घटता जा रहा है । अन्य देशोंमें, जहाँ फसलोंकी पैदावार भारतसे कहीं अधिक है, वहाँके लोग पशुओंको पालकर मालामाल हो जाते हैं और हमारे भारतवासी मूर्खता और दरिद्रतावश पशुओंकी मात्रा बढ़ानेके बदले घटाते जा रहे हैं । उत्तम वैज्ञानिक पशुशाला जैसी होनी चाहिये, एक भी नहीं है । परंतु ईदके दिन लाखों गायोंकी एक ही दिनमें नाहक कुरबानी कर दी जाती है । यहाँपर लगभग चार करोड़ मुसल्मान हैं, जो दरिद्रतावश बकरीका मांस न खरीदकर टके सेरवाला सस्ता गो-मांस भक्षण करते हैं । मानो गाय मुसल्मानोंके बच्चोंको दूध पिलाकर पुष्ट नहीं करती और अरबके रेगिस्तानसे ऊँट आकर इनके खेत जोत जाते हैं । यहाँपर ३४५९८० कसाई गोवध करनेवाले हैं । अन्य देशोंमें भी कसाई हैं और मांसाहारी भी हैं; परंतु वे यहाँके मांसाहारियोंकी भाँति अपनी दूध देनेवाली गायोंके गले काटकर देशपर छुरी नहीं फेरते और अपने राष्ट्रकी जड़पर कुठाराघात नहीं करते । अतएव भारतवर्षके सभी हिंदू कहलानेवालोंसे मेरी अपील है कि गौ और बैलको दरिद्रताके कारण कसाइयोंको नहीं बेचनेका प्रण कर लें, क्योंकि ये पशु ही आपलोगोंकी कृषिका आधार हैं । यदि इन पशुओंका बेचना और वध करना एकदम रोक दिया जाय तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि विदेशी यन्त्रोंकी हमारे कृषि-कार्यमें कभी भी आवश्यकता नहीं होगी और इनके द्वारा हमारा भारत शक्तिशाली तो बनेगा ही, साथ-ही-साथ घी, दूध, दहीकी नदियाँ बहने लगेंगी और भारत फिर सोनेकी चिड़िया बन जायगी । खाद्यान्नकी इस देशमें फिर कभी भी कमी नहीं रहेगी, जिसके लिये कि आज हमें दूसरे देशोंकी ओर ताकना पड़ रहा है ! फिर हम स्वावलम्बी बन जायँगे ।

तबसे बैठा देख रहा हूँ फिर आनेकी राह !

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

उन दिनों हरिद्वारमें अर्द्धकुम्भीका मेला था । मैं भी गया था । मैंने तीन दिनसे लक्ष्य किया कि एक सिपाही सरकारी वर्दीमें, एक करीलके नीचे बैठा माला जपा करता है । तीसरे दिन मैं उसके पास गया, उसने हाथ जोड़कर 'जय सीताराम स्वामीजी !' कहा । मैं पास ही बैठ गया ।

मैं—तुम किस टाइपके सिपाही हो जी ?

वह—क्यों स्वामीजी ?

मैं—सिपाहीके हाथमें माला ? सिपाहीके हाथमें तो चाहिये भाला !

वह—क्या एक सिपाही भक्त नहीं बन सकता महाराज ?

मैं—जो भक्त होगा, वह सिपाही नहीं बनेगा और जो सिपाही होगा, वह भक्त नहीं बनेगा ! दोनों विपरीत अवस्थाएँ हैं ।

वह—परंतु मुझमें दोनों बातें हैं !

मैं—देखो सिपाहियोंका जीवन । वे देखो, वे दो सिपाही गाँजेकी दम लगा रहे हैं । वह देखो, एक सिपाही किसी गरीब यात्रीसे पैसे ऐंठ रहा है । उधर देखो, वे तीन सिपाही पुलपर आनेवाली युवतियोंको कैसे घूर रहे हैं, मानो विधातारचित सौन्दर्य-चन्द्रके राहु-केतु हैं !

वह—आप ठीक कह रहे हैं । आज हमारी सिपाहीकी कौम ही अधरमी हो गयी है ।

मैं—इधर तुमको देखो, सबसे अलग विरागीकी तरह, माला जप रहे हो । किसका मन्त्र जप रहे हो ?

वह—विष्णु भगवान्‌का ।

मैं—मन्त्र किसने दिया ?

वह—मेरे गुरुने !

मैं—तुम्हारा गुरु कौन है ?

वह—मेरी स्त्री !

मैं—खूब ! विरोधाभासका जोड़ा !

वह—सो क्यों स्वामीजी ?

मैं—(१) सिपाही भक्त और (२) स्त्री गुरु ! ये दोनों ही विरोधाभास हैं । यानी सिपाही भक्त नहीं बन सकता; क्योंकि सिपाहीकी जात आज जालिम हो गयी है । और स्त्री गुरु नहीं बन सकती, क्योंकि औरतकी जाति मायाविनी होती है; परंतु तुम्हारे पास दोनों विरुद्ध बातें उपस्थित हैं । यही आश्चर्य है ।

वह—कभी-कभी सिपाही भी भक्त बन जाता है और कभी-कभी स्त्री भी गुरु बन जाती है ।

मैं—यह भी ठीक है ! प्रकृति असम्भवको भी सम्भव बनाया करती है । सम्भव, असम्भव और अन्यथा सम्भव—ये तीनों हरकतें प्रकृतिमें हैं ।

वह—लक्ष्मणजीकी गुरु सुमित्रा देवी स्त्री जातिकी ही थीं । तुलसीजीकी गुरु रत्नावली स्त्री ही थीं और गोपीचन्दकी गुरु उनकी माता मैनावतीजी भी स्त्री ही थीं । इसी प्रकार मेरी स्त्री मेरी गुरु है ।

मैं—तुम्हारा नाम ?

वह—मुझे लोग ठाकुर जीवनसिंह कहते हैं ।

मैं—कहाँके रहनेवाले हो ?

वह—जौनपुर । यहाँ कुम्भभरके लिये मेरी भी ड्यूटी है ।

मैं—अच्छा तो जीवनसिंहजी ! आप अपनी कहानी सुना जाइये !

× × ×

जीवनसिंहने माला रख दी और कहने लगा—

'आप नहीं मानते तो सुन लीजिये मेरी विचित्र कहानी !'

मैं—क्योंकि तुम्हारी कहानीमें अवश्य कोई अघट-घटना होगी ?

जीवन—अघट-घटना ! जरूर है ! उसी घटनाने मुझे पागल बना दिया है !

मैं—कहो क्या बात है। शायद मैं कोई सलाह दे सकूँ।

जीवन—इसीलिये सुनाता हूँ कि शायद आप कोई रास्ता दिखलावें। बात यह है कि मैं पक्का सुधारक था। सबका खण्डन करता था और मेरी स्त्री थी परम श्रद्धालु, घोर सनातनधर्मी।

मैं—घोर सनातनधर्मी ?

जीवन—घोर नहीं बल्कि घनघोर सनातनधर्मी !

मैं—इसके क्या मानी ?

जीवन—उसने आँगनमें तुलसीका वृक्ष लगा रक्खा था। उसीमें एक मूर्ति शालग्रामजीकी रख दी थी कि जो उसके गुरु उसे दे गये थे। तुलसीके घरोंदेमें भगवान् विष्णुजीकी तसवीर टँगी थी। रोज सवेरे उठकर वह स्नान करती और ठाकुरजीकी पूजा करती थी। रामायण पढ़ती और विष्णुसहस्रनामका पाठ करती। तब किसीसे बात करती थी।

मैं—उसका नाम क्या था ?

जीवन—वह मर नहीं गयी है ! उसका नाम गोमती देवी है। तीन पुत्र तथा एक कन्याकी माता है।

मैं—अच्छा, आगे कहो।

जीवन—एक दिन रातको मैंने उससे कहा कि कप्तान साहब मुझपर नाराज हैं। एक दिन सलाम नहीं किया, इसीसे नाराज हो गया है। मेरा तबादला उस पाजीने अल्मोड़ा कर दिया है।

गोमती—अल्मोड़ा कहाँ है ?

जीवन—जहाँके हमारे प्रधान मन्त्री और प्रसिद्ध कवि—दोनों पंतजी हैं। वह एक पहाड़ी जिला है। वहाँके लोग बड़े रूखे माने जाते हैं। यहाँसे बहुत दूर है ! धरतीके छोरपर समझो।

गोमती—तो क्या करोगे ?

जीवन—इस्तीफा दूँगा।

गोमती—गुजर कैसे होगी ?

जीवन—खेती करूँगा। उत्तम खेती ही है। नौकरी तो निकृष्ट है।

गोमती—मत घबड़ाओ ! मैं अपने विष्णु भगवान्से प्रार्थना करूँगी। तुम्हारा तबादला मंसूख हो जायगा।

जीवन—मैं कप्तानके पास जाकर तबादला रोकनेकी प्रार्थना कदापि न करूँगा।

गोमती—मत करना।

जीवन—फिर भी तबादला रुक जायगा ?

गोमती—हाँ, रुक जायगा।

जीवन—कैसे ?

गोमती—विष्णु भगवान् रोक देंगे।

जीवन—अरी भोली ! विष्णु भगवान् कोई चीज नहीं !

गोमती—वाह, वाह ! यह खूब कही !

जीवन—ब्रह्मा, विष्णु और शंकरकी कल्पना पोंगापंथी सनातनियोंके सड़े दिमागकी की हुई है। हमलोग कल्पनाके पीछे नहीं दौड़ते, सचाईको अपनाते हैं जो सदा हमारे सामने होती है। विष्णुको किसने देखा है ? असलमें विष्णु नामक कोई चीज इस संसारमें नहीं है। कोई परमात्मा है भी तो वह निराकार परमात्मा ही है !

गोमती—वही निराकार हैं, वही साकार हैं ! वही ब्रह्मा नामक साकारद्वारा जगत्की रचना करते हैं, वही विष्णु भगवान्के रूपसे संसारका पालन करते हैं और वही परमेश्वर रुद्र-शंकरके साकारद्वारा संहार करते हैं।

जीवन—(हँसकर) मैं यह तो मान ही नहीं सकता कि विष्णु भगवान् कोई चीज हैं। पर यदि विष्णु कोई थे तो अब बूढ़े हो गये होंगे या मर गये होंगे !

गोमती—नहीं, देवता न तो बूढ़े होते हैं और न मरते हैं। फिर वे तो देवोंके भी देव हैं। साक्षात् ईश्वर ही हैं।

जीवन—मैं तो तब जानूँ कि विष्णु भगवान् ही जगत्के पालक हैं कि जब मेरा तबादला रुक जाय और मुझे कप्तानके सामने गिड़गिड़ाना न पड़े ।

गोमती—ऐसा ही होगा ।

जीवन—यदि ऐसा हुआ तो मैं अपनी सुधारकीको भाड़में झोंक दूँगा और तुम्हारे सनातनधर्ममें आ जाऊँगा । इतना ही नहीं, तुमको गुरु मानूँगा ।

गोमती—आज मैं प्रार्थना करूँगी ।

जीवन—कल प्रातः मैं इस्तीफा दे दूँगा । लिखा रक्खा है । इसलिये आज ही जो कुछ करना हो कर डालना । क्योंकि परसों अलमोड़ा जानेका हुक्म मिलेगा । पेशकार साहबने पक्की खबर दी है । हुक्म तबादलाका लिखा जा चुका है । साहबके दस्तखत भी हो चुके हैं । परसों मुझे वह हुक्म दे दिया जायगा ।

गोमती—आप निश्चिन्त होकर अपने पहरेपर जाइये ।

× × ×

मैं—क्यों जीवनसिंह ! कप्तान साहब किस जातिका था ?

जीवन—अंग्रेज बच्चा था मि० यार्क साहब ! बड़े कड़े मिजाजका अफसर था । सुपरिंटेंडेंट पुलिसको भी 'कप्तान' कहते हैं हमलोग ।

मैंने कहा—अच्छा फिर क्या हुआ ?

जीवनसिंह—मैं कचहरीपर पहरा देने जा रहा था । आधी रातका समय था । आधी रातसे प्रातःतक मेरी ड्यूटी थी । जब कचहरीके पास पहुँचा तो मुझे एक पण्डितजी मिले । मेरे कुलपुरोहित पण्डित दुलीचंदको पहचान कर मैं खड़ा हो गया । सनातनधर्मी न होनेके कारण मैं तो उनको अपना पुरोहित नहीं मानता था, परंतु गोमती मानती थी और वह उनको बहुधा बुलाकर व्रतोंकी व्यवस्था लिया करती थी । मुझसे उन्होंने कहा—

'मुझे तुम्हारे तबादलेका हाल मालूम है । कल सुबह इस्तीफा मत पेश करना । कल दोपहरको मंसूखी-तबादलाका हुक्म मिल जायगा ।'

—इतना कहकर वे चले गये । मैंने उनकी बातपर कोई ध्यान नहीं दिया; क्योंकि ज्योतिषपर मुझे विश्वास नहीं था और वे एक ज्यौतिषी थे ।

मैंने पूछा—फिर सुबह इस्तीफा पेश किया ?

जीवन—मैंने इतनी बात निश्चय कर ली थी कि इस्तीफा सुबह नहीं, कल शामको दाखिल करूँगा । अपनी स्त्री तथा पण्डितजीकी बातकी जाँच भी तो करनी थी ।

मैं—आगे कहो ।

जीवन—जब पहरा देकर मैं सुबह घर गया तब अपनी स्त्रीसे ज्यौतिषीजीवाली बात कही । वह बोली कि उसने भी प्रार्थना की थी । इसके बाद बड़े लड़केको भेजकर पण्डित दुलीचंदजी ज्यौतिषीको मेरी स्त्रीने घरपर बुलवाया और वे आये ।

गोमतीने उनको सादर बैठाया और पूछा—'कल आधी रातको आपने ठाकुरसाहबसे क्या कहा था ?'

पं०जी—कुछ नहीं ।

जीवन—आप कल आधी रातको कचहरीके पास मुझे मिले थे या नहीं ?

पं०जी—नहीं ।

जीवन—तब वह कौन था ?

पं०जी—मुझे नहीं मालूम ।

जीवन—कल आधी रात आप कहीं गये थे ?

पं०जी—कल रातको मैंने घरसे बाहर कहीं डग भी नहीं मारी ।

जीवन—मैं यह नहीं मान सकता । मैं सिपाही हूँ—मुझे कोई चकमा नहीं दे सकता ।

पं०जी—मेरे पास सबूत भी है ।

जीवन—कैसा सबूत ?

पं०जी—मेरे घरके पास पण्डित शिवशङ्करदयालुजी वैद्य रहते हैं ।

जीवन–मैं उनको जानता हूँ। कई बार दवा भी लाया हूँ।

पं०जी–उनको बुलवा लीजिये। वही मेरे गवाह हैं।

लड़केको भेजकर मैंने वैद्यजीको बुलाया और वे आये। वैद्यजीसे मैंने कहा—'क्यों वैद्यजी! मेरी एक बातका जवाब आप सच-सच देंगे?'

वैद्य–भय या लोभसे लोग झूठ बोलते हैं। मुझे आपसे न तो भय है और न लोभ।

जीवन–आपको अपने पुत्रकी शपथ है, सच जवाब देना।

वैद्य–शपथ न देते तो भी सच बोलता। कहो क्या बात है?

जीवन–कल रातको ज्योतिषीजी कहीं बाहर गये थे?

वैद्य–कल शामको मैंने भाँग बनायी थी। इनको जरा ज्यादा पिला दी थी। ये रातभर बेहोश पड़े रहे। इनकी स्त्री घबड़ा गयी थी। आधी रातको मुझे नाड़ी देखने बुलावा गया था। मैंने एक दवा देकर इनको कै करायी थी। मैं शपथसे कहता हूँ कि ये सुबहतक कहीं नहीं गये।

जीवन–बस, अब आप दोनों साहब जा सकते हैं। वे दोनों चले गये।

दोपहरीको पेशकारसाहबने मुझसे कहा कि—'तुम्हारे तबादलेका हुक्म मंसूख कर दिया गया। तुम जौनपुरमें ही रहोगे।' जब मैंने कारण पूछा तो उन्होंने जवाब दिया—'साहबोंके मनकी बात मैं क्या जानूँ।'

× × ×

जीवन–अब बताइये स्वामीजी! ज्यौतिषीके रूपमें वह कौन था?

मैंने कहा–विष्णु भगवान् ही थे।

जीवन–वे क्यों आये थे?

मैं–तुमने कहा था कि विष्णुजी मर गये सो वे हाजिरी देने आये थे कि मैं अभी नहीं मरा हूँ।

जीवन–लेकिन मैं तो मर गया। उसी समयसे मैं पागल हो गया हूँ। यदि मैं जानता कि विष्णु भगवान् ही ब्राह्मणके रूपसे खड़े हैं, तो मैं उनके चरण पकड़ लेता। भक्तिका वरदान माँगता।

मैं–तुमको दर्शन हो गया। तुम धन्य हो। बड़े-बड़े भक्तोंको उनका दर्शन नहीं होता। फिर इस कलियुगमें तो और भी कठिन बात है।

जीवन–मेरी स्त्रीने 'हरिःशरणम्' वाला मन्त्र मुझे दिया। उसी मन्त्रको मालापर जपा करता हूँ और—

'तबसे बैठा देख रहा हूँ फिर आनेकी राह!'

मैं–इस प्रकार तुमको सुधारकीका भूत छोड़ गया!

जीवन–मैंने समझ लिया कि इस सुधारकीमें कुछ तथ्य नहीं है, केवल हठधर्मी ही है। ज्ञान तो इसमें नहींके समान है। यथार्थ ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

मैं–ठीक है।

जीवन–क्यों स्वामीजी! अब क्या फिर दर्शन नहीं होंगे?

मैं–मैं क्या जानूँ—साहबोंके मनकी बात! यदि वे प्रसन्न हो जायँ तो प्रतिदिन दर्शन दे सकते हैं। प्रसन्न न हों तो सात जनम न मिलें। 'विष्णु भगवान समान न आन!'

जीवन–मैं प्रयत्न तो यही कर रहा हूँ कि एक बार फिर मिलें।

मैं–किये जाओ प्रयत्न मेरे प्यारे! यह प्रयत्न ही मनुष्य-जीवनका सबसे बड़ा फल है।

जीवन–यही मेरे जीवनकी एक अघटन-घटना है!

मैं–खूब है भैया! तुम सचमुच अजीब सिपाही हो।

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये सादर प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

आज विश्वमें सर्वत्र अशान्ति है। सभी देशोंके जन-समाज नाना प्रकारके अभावोंसे पीड़ित और भविष्यके लिये चिन्तित हैं। अवर्षण, अतिवर्षण और विविध प्रकारकी आधि-व्याधियों-जैसे दैवी कोप बार-बार सर्वत्र हो रहे हैं। अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम, संहार बढ़ रहे हैं। ये सभी लक्षण चिन्ताजनक हैं। ऐसी दशामें अन्यान्य बाह्य उपायोंके साथ-साथ अपने, अपनी मातृभूमि भारतवर्षके और सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिये, पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये और साधकोंके परम लक्ष्य तथा मानवजीवनके एकमात्र ध्येय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवन्नाम-जपके अमोघ साधनका भी आश्रय लेना नितान्त आवश्यक है। श्रीभगवान्‌के नामकी महिमाका कुछ पता उन्हींको है, जो नामके विलक्षण प्रभावका अनुभव कर चुके हैं। विश्वासपूर्वक नाम-जप करनेसे ऐसा कौन-सा कार्य है जो नहीं हो सकता। प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर कुछ विलम्ब भले ही हो जाय, परंतु नाम कभी व्यर्थ नहीं जाता और इस घोर कलिकालमें तो बस जीवोंके लिये एकमात्र सहारा भगवन्नाम ही है। 'कल्याण'के भाग्यवान् ग्राहक, अनुग्राहक और पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गत वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपकी प्रार्थना की गयी थी। अत्यन्त प्रसन्नताकी बात है कि ५०० स्थानोंसे अधिकके व्यक्तियोंने लगभग २०, २०, ५३, ८८० मन्त्र-जप किया है। नाम-जपकी संख्या जोड़नेपर ३, २३, ५९, ५८, ४०० (तीन अरब, तेईस करोड़, उनसठ लाख, अट्ठानबे हजार, चार सौ) होती है। इसके अतिरिक्त पञ्चाक्षरी, द्वादशाक्षर तथा अन्यान्य मन्त्रों एवं नामोंके जपकी भी सूचनाएँ आयी हैं। बहुतोंने जप करनेकी सूचना दी है, पर संख्या नहीं लिखी है। कितने ही सज्जन नियमित रूपसे व्रत लेकर जप करने लगे हैं। जप भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और भारतके बाहर भी हुआ है। इसके लिये हम समस्त जापकोंके आभारी हैं।

इस वर्ष भी अपने, देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल १५ तक हो। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्‌का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक नाम-जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें। नियमादि सदाकी भाँति हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश

[दूसरी ओर देखिये]

यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। भगवन्नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत अच्छा है।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र एक मालाका जप अवश्य करना चाहिये।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रति दिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कृपालु लेखक महानुभावोंसे पुनः विनीत प्रार्थना

गताङ्कमें प्रार्थना करनेपर भी 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' के लिये अबतक प्रतिदिन ढेर-के-ढेर लेख आ रहे हैं। 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' के लिये जितने पृष्ठोंका निश्चय किया गया है, उससे अधिक पृष्ठ-संख्या बढ़ानेकी तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इस अवस्थामें पीछेसे आये हुए इन लेखोंमेंसे अधिकांश लेख, मनमें बड़ा संकोच होते हुए भी, प्रकाशित नहीं किये जा सकेंगे और बाध्य होकर उन्हें वापस लौटाना पड़ेगा। अतएव पुनः प्रार्थना है कि अब कोई भी महानुभाव, बिना माँगे, लेख-कविता कृपया न भेजें। और हमारी स्थितिपर विचार करके कृपापूर्वक क्षमा प्रदान करें।

विनीत, सम्पादक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)